लेखक की अन्य कृतियाँ

१. तेरापंथ का इतिहास
२. जय हिन्दी व्याकरण
३ मन्थन
४ आवर्त्त
५. उठो ! जागो !!
६. उत्तिष्ठ ! जागृत !! (संस्कृत)
७ स्मितम् (संस्कृत)
८ उस पार
९. अणुव्रत विचार दर्शन
१०. मानवता का मार्ग अणुव्रत-आन्दोलन
११ तेरापंथ (हिन्दी, अंग्रेजी)

अनूदित कृतियां

१ श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका
२ शिक्षापण्णवती
३ कर्तव्यषट्त्रिंशिका

SHRAMAN SANSKRITI KE ANCHAL MEN

by

Muni Shri Buddhamullji

Rs 3 00

[श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता-1 के सौजन्य से प्राप्त]

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

शाखाएं
- हौज खास, नई दिल्ली
- माई हीरां गेट, जालन्धर
- चौड़ा रास्ता, जयपुर
- बेगमपुल रोड, मेरठ
- विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़

मूल्य तीन रुपए

संस्करण प्रथम 1962

मुद्रक

किए गए हैं । इन भाषणो तथा प्रश्नोत्तरो के सकलन मे मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा न मनोहरलालजी आदि का श्रम लगा है।

विभिन्न आवश्यकताओ को ध्यान मे रख कर विभिन्न अवसरो पर लिखे गए निबन्ध तथा विभिन्न समयो पर विभिन्न परिषदो मे दिये गए भाषण यद्यपि भाषा और भावो के किसी एक क्रम का बन्धन रख कर नही चल पाए है, फिर भी उद्गम और लक्ष्य के एकत्व ने बीच की सभी दूरियो तथा विभिन्नताओ के बावजूद उन सबमे विभिन्न जल-स्रोतो की तरह पारस्परिक एकसूत्रता को बनाए रखा है।

हिंसा तथा अहवाद प्राय हर एक युग मे रह-रहकर प्रबल होते रहे हैं । इस युग मे उसकी प्रबलता अपेक्षाकृत और भी अधिक अनुभव हो रही है । जैन-परम्परा ने प्रारम्भ काल मे ही मनुष्य की इन दुर्दम प्रवृत्तियो पर अकुश लगाने का प्रयास किया है । उसने अहिंसा तथा समन्वय को ही अपनी मूल भित्ति माना है । उसके आचार-शास्त्र को अहिंसा-शास्त्र तथा दर्शन शास्त्र को समन्वय-शास्त्र कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नही होगी । मेरे ये निबन्ध व भाषण श्रमण सस्कृति के उन्ही दोनो मूलभूत आधारो पर प्रकाश डालने वाले हैं । इनसे यत्किंचित् प्रकाश प्राप्त कर अहिंसा तथा समन्वय की ओर जनता के कदम बढ़ेंगे, ऐसी आशा है।

सवत् २०१७ कार्तिक पूर्णिमा
राजनगर (राजस्थान)

—*मुनि बुद्धमल्ल*

१

दर्शन और धर्म

दर्शन

'दर्शन' शब्द का सामान्य अर्थ होता है—देखना, किन्तु यहां समीक्षण-परीक्षण-पूर्वक या विशेष विमर्शण-पूर्वक देखना ही दर्शन का अर्थ समझना चाहिए। इसी बात को सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है कि 'विचार' ही दर्शन है, पर वे विचार सुलझे हुए और सामूहिक होने चाहिए। तात्पर्य यह कि व्यक्ति के अन्तर्निहित विचार जब परिमार्जित रूप लेकर समष्टि-गत हो जाते है, तब वे दर्शन के नाम से पुकारे जाते है।

दर्शन की उत्पत्ति के विषय मे अनेक विचार पाए जाते है। कुछ दार्शनिक 'जिज्ञासा' से दर्शन की उत्पत्ति मानते है। व्यक्ति के चित्त मे जब कोई बात जानने की इच्छा होती है, तब वह उस विषय पर ध्यानपूर्वक सोचता है और उस रहस्य को पा जाता है। दुःखत्रयाभिघात से जब व्यक्ति छुटकारा पाने और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति के लिए उपाय जानना चाहता है, तब भी 'जिज्ञासा' की भूमिका पर ही दर्शन का उद्भव होता है। 'कि नाम हुज्जत कम्म, जे णाह दुग्गइ न गच्छेज्जा' ऐसा विचार दुर्गति के दुःखों से छूटने के लिए ही उत्पन्न होता है, क्योंकि अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-प्रचुर संसार के सुखों को वह दुःख-रूप ही समझने लगता है, अतः आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति के लिए वह इन दोनों (सुख और दुःख) की जड़ों को पहचानकर इष्ट की ओर अग्रसर होता है।

महात्मा बुद्ध ने भी ससार के सनातन दुःख—जन्म और मृत्यु से ही भीत होकर उसकी जड़ को ढूँढने का सकल्प किया था। 'जननमरणयोर-दृष्टपार नाहं कपिलाह्वय प्रवेष्टा'—जन्म और मृत्यु का पार जाने बिना मैं कपिलवस्तु मे प्रवेश नही करूँगा, महाभिनिष्क्रमण के समय की गई यह प्रतिज्ञा उनकी दुःख-जन्य उत्कट जिज्ञासा की द्योतक है।

जिज्ञासा हर किसी विषय मे हो सकती है और उसकी जड़ मे दर्शन की प्राप्ति होती है। अन्य जिज्ञासाओ की तो बात ही क्या, अभी तक हम अपने से अभिन्न इस आत्मा के विषय मे भी जिज्ञासा को शान्त नही कर पाए है। आचाराग सूत्र मे इसे यो व्यक्त किया गया है—'इह मेगेसि णो णाय भवइ, अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए? के अह आसि? के वा इओ चुओ पेच्चा भविस्सामि?' इस प्रकार हम इसका फलितार्थ यो कर सकते है कि हमारी जिज्ञासाओ को शान्त करने के लिए जो सूत्र खोजे जाते है, वही दर्शन है।

कुछ दार्शनिक 'आश्चर्य' मे दर्शन का उद्भव मानते है, क्योकि जिस विषय मे कोई कुतूहल नही होता, उसकी गहराई खोजने के लिए कभी उत्सुक नही होते। रात मे झिलमिलाते हुए तारे, चन्द्र, सूर्य आदि अनेक दूरस्थ पदार्थ, पहाड, तितली, अकुर, वृक्ष, मनुष्य, पशु आदि निकटस्थ पदार्थ, हमारे मन मे ससार की विविधता और विस्मयता के विषय मे एक नैसर्गिक कुतूहल उत्पन्न करते है और तब हम यो जानना चाहते है कि यह ससार कैसे बना है, ये पदार्थ किसने पैदा किये, इनका नियमन कौन करता है, यह सब जो कि हम देख रहे है, किन्तु समझ नही रहे है, स्वत उद्भूत है या किसी के द्वारा बने है। बस इसी भित्ति पर दर्शन का महल खड़ा होता है। पाश्चात्य महान् दार्शनिक प्लेटो इसी विचार-धारा के समर्थक थे। वे कहते है—'Philosophy begins in wonder' अर्थात् 'दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से है।' इसका फलितार्थ यो समझ सकते है कि हमारे आश्चर्यों को शान्त करने के लिए जो सूत्र खोजे जाते है, वही दर्शन है।

धर्म

धर्म की भी विविध व्याख्याएं की गई हैं, जैसे 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे हमारा अभ्युदय हो और जिससे हमें निःश्रेयस् की प्राप्ति हो, वही धर्म है। इसी प्रकार 'दुर्गतौ प्रपतज्जन्तुधारणाद् धर्म उच्यते' अर्थात् दुर्गतिपात से प्राणियों को जो बचाता है, उसे धर्म कहते हैं तथा 'आत्म-शुद्धि-साधनं धर्मः' अर्थात् 'जो आत्म-शुद्धि का साधन है' उसे धर्म कहते हैं। धर्म की इन व्याख्याओं में कोई बड़ा अन्तर नहीं है, परन्तु आज इतने धर्म और उनमें परस्पर इतना अन्तर जो दृष्टिगत हो रहा है, वह सब एक 'यत्' से पैदा हुआ है। जो अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि में सहायक है, जो दुर्गति-पतन के समय धारण करता है, जो आत्म-शुद्धि का साधन है, आखिर वह कार्य कौन-सा है? इसी के उत्तर में सारे धर्मों की विभिन्नता की जड़ छिपी हुई है।

एकता और भिन्नता

वस्तुतः दर्शन और धर्म परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, अतः एक दूसरे की सदैव अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि दर्शन 'विचार' का रूपायन है तो धर्म आचार का। विचार और आचार एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हो सकते। एक व्यक्ति किसी प्रकार का आचरण करता है तो उसके पीछे किसी न किसी प्रकार का विचार अवश्य काम करता रहता है, इसी तरह एक व्यक्ति किसी तरह का विचार रखता है तो अवश्य ही जाने-अनजाने, वह उसके अनुकूल आचरण करने का भी प्रयास करता है। निष्कर्ष यह कि आज कोई भी 'आचार' विचार-शून्य और कोई भी 'विचार' आचार-प्रेरकता-शून्य नहीं हो सकता। आचार की विचार-पूर्वकता और विचार की आचार-प्रेरकता से यदि हम लाभ उठाना छोड़ दें और उनको उपेक्षा-दृष्टि से देखें तो दार्शनिकता और धार्मिकता की मर्यादाएं विघटित हो जाती हैं और दर्शन तथा धर्म दोनों ही पंगु हो जाते हैं।

इन दोनो की परस्पर भिन्नता-विभाजक सीमाएं ये हो सकती है –

दर्शन—विचार-प्रधान है ।	धर्म—आचार-प्रधान है ।
दर्शन—सत्य को खोजने का तरीका है ।	धर्म—सत्य को जीवन मे उतारने का तरीका है ।
दर्शन—मार्ग दिखाता है ।	धर्म—मार्ग पर चलाता है ।
दर्शन—तर्क-प्रधान है ।	धर्म—श्रद्धा-प्रधान है ।

विचार-प्रधान और आचार-प्रधान होने के कारण हम इन्हे सैद्धान्तिक शब्दो मे क्रमश ज्ञान और क्रिया के नाम से भी पुकार सकते है और इसीलिए ज्ञान और क्रिया का जो सम्वन्ध है, वही सम्वन्ध दर्शन और धर्म का समझना चाहिए । 'पढम नाण तओ दया' तथा 'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष' इत्यादि वाक्यो मे पूर्वज आचार्यों ने इनका पारस्परिक सम्वन्ध स्पष्टतया स्वीकार किया है । मुक्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य को ये दोनो उतने ही आवश्यक है, जितने कि चलने के लिए अपने दोनो पैर ।

यद्यपि दर्शन और धर्म दोनो हमारे उन्नत जीवन के आधार-स्तम्भ है, फिर भी खेद के साथ कहना पडता है कि आज इन्ही दोनो विषयो को लेकर ससार मे सवसे वडा मतभेद व विवाद है । मानव-जाति की देश-काल-जन्य विभिन्न परिस्थितियो ने मनुष्य को विभिन्न प्रकार से सोचने को वाध्य किया और विभिन्न विचारो ने विभिन्न कार्य-प्रणालियो को प्रोत्साहन दिया । वस, इसी कारण नाना दर्शनो और नाना धर्मों का वीजारोपण हुआ ।

वहुत जगह एक समान परिस्थितियो मे भी विचारको की भिन्नता ने उनमे भिन्नता पैदा की है । एक व्यक्ति जिस प्रश्न का हल जिस प्रकार से निकालता है और जिस जीवन-व्यवस्था को पसन्द करता है, दूसरा व्यक्ति उससे भिन्न भी कर सकता है, किन्तु ऐसे किसी एक की पसन्दगी से कोई विचार और आचार दर्शन तथा धर्म नही वन जाते । यह तो तभी हो सकता है, जवकि वे परिमार्जित होकर समूह-गत हो जाते है ।

प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनो और धर्मों की ही नही; किन्तु तत्-तद्देशीय दर्शनो तथा धर्मों की भी पारस्परिक भिन्नताएं वहुधा इन्ही कारणो से उद्-

भूत है। यदि हम आज भी परिस्थिति और विचार के व्यक्तित्व की चादर को दूर हटा कर देखे तो प्राय सभी दर्शनो एव धर्मो के मूलरूप एक समान ही दृष्टिगत होंगे। किन्तु आज तक के उपलब्ध इतिहास मे ऐसे व्यक्ति बहुत ही थोडे मिलेंगे, जिन्होंने भिन्नता को गौण बनाकर एकता का दृष्टिकोण सचाई से दुनिया के सामने रखकर विशाल-हृदयता का परिचय दिया हो, अधिकाश व्यक्तियो ने तो भिन्नता को प्रमुखता प्रदान करके पारस्परिक ऐक्य को और भी असाध्य बना दिया।

जैनो का इस विषय मे दृष्टिकोण काफी विशाल रहा है। जैन-दार्शनिको तथा धार्मिको ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपना कर दुनिया के सामने एक आदर्श उपस्थित किया। यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि वह उदार दृष्टिकोण आज भी उसी तरह अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान है, फिर भी विरासत के रूप मे जो उदार सिद्धान्त मिले है, उनकी रक्षा का भार हमे अपने ऊपर ही समझना चाहिए। किसी भी दर्शन एव धर्म का सम्पूर्ण रूप किसी दूसरे दर्शन एव धर्म से समन्वित हो सके, ऐसा तो सम्भव प्रतीत नही होता; फिर भी जितना सत्यांश, जिस दिशा से, हमे प्राप्त हो, उसे सादर अपने मे समन्वित करते, हमे कोई अड़चन नही होनी चाहिए। दूसरे के सत्य को अपने सत्य के बराबर ही स्थान देकर हम नीचे नही गिरते, किन्तु कुछ ऊपर ही उठते है।

आज ऐसे दार्शनिकों और धार्मिको की अत्यन्त आवश्यकता है, जो अपनी भावना को इस प्रकार ससार के सामने रख सकें कि सब उसे अनुकूल समझ कर अपना सकें। इसका तात्पर्य यह तो नहीं है कि कोई अपने अभिप्रेत सत्य को दुनिया के गले उतारने के लिए अन्यथा प्रतिपादित करने लगे, किन्तु यह है कि अपने सत्य को इस प्रकार कहा जाए कि दुनिया उसे सत्य मानने मे झिझक न करे।

सत्य का नाम जितना आकर्षक होता है, उतना उसका रूप आकर्षक नहीं होता, अत कभी-कभी सत्य की दुहाई देने वाले भी उसको पहचानने मे और पहचान लेने पर भी उसे स्वीकार करने मे हिचकिचाने लगते है।

ऐसा अवसर किसी दार्शनिक एवं धार्मिक के लिए एक परीक्षा का अवसर होता है। प्रत्येक विचार की सत्यता को परखना और उसे बिना किसी भेद के जीवन में उतारना दर्शन और धर्म को समन्वित करने का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। ऐसा जीवन ही वास्तव में आदर्श है और अनुकरणीय भी हो सकता है।

दर्शन और धर्म की जितने परिमाण में एकात्मकता होती है, उतने ही परिमाण में जीवन की उदात्तता बढती है, किन्तु आज एकात्मकता के स्थान पर द्वैतता का प्रादुर्भाव मालूम पडता है। आज विचारों के द्वारा जीवन की समस्याओं का हल निकालने का जितना प्रयास किया जाता है, उतना उनको हल करने का नही।

पूर्वकाल मे दर्शन का विषय बहुत सीमित था। उसका अर्थ केवल धर्म-दर्शन जितना ही लिया जाता था, किन्तु आज उसका विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका है और उसका वह अर्थ उसके एक अंग-रूप मे व्यक्त हो चुका है। जीवन की प्रत्येक दिशा मे विचार करने का आज दर्शन को अधिकार है। यहा तक कि रोटी का भी एक दर्शन है। समाज-दर्शन आदि तो आज के लोक-प्रिय दर्शन कहे जा सकते है। समाज की प्रत्येक बुराई को दूर करने के उपाय सोचकर यथा-सम्भव उन्हे दूर करके एक सुखी, समृद्ध, आदर्श समाज की स्थापना करना इसका उद्देश्य है। इनके विचारानुसार "कोई भी बुराई अपने आप नही पनपती, उनके पीछे अवश्य ही कुछ कारण होते है। जब तक इन कारणों को नही मिटा दिया जाता, तब तक उनसे उत्पन्न होने वाली बुराई नही मिट सकती। दृष्टान्त के लिए चोरी को ही लीजिए। यह एक धार्मिक तथा सामाजिक बुराई है। सम्भवत चोर स्वय उसे बुराई मानते है, फिर भी यह मिटती नही, किन्तु बढती ही जा रही है। धर्मोपदेश और दण्ड-विधान आदि उपाय भी इसकी जड नही काट सके। इसका कारण यही हो सकता है कि जो वस्तुए अन्य को सुलभ है, वे सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की विषमता के कारण कुछ व्यक्तियों को सुलभ नही है। उनके अभाव की पूर्ति मनुष्य किसी भी ढग से करना चाहता है। नैतिक उपायों से जब वह अपने कार्य मे असफल

हो जाता है, तब अनैतिक उपाय काम में लाने लगता है, इस प्रकार चोरी की परम्परा चालू रहती है। इस परम्परा को नष्ट तभी किया जा सकता है, जब कि ऐसी अर्थ-व्यवस्था, जिसके कारण मनुष्य को चोर बनना पडता है, नष्ट कर दी जाए और उसकी जगह दूसरी ऐसी अर्थ-व्यवस्था स्थापित की जाए, जिससे कि समान स्तर पर अर्थ का वितरण हो सके। फिर तो चोरी अपने आप नष्ट हो जाए। यह एक दृष्टान्त है। इस प्रकार प्रत्येक बुराई के विषय मे सोच कर उसके कारण का पता लगाया जा सकता है और उस कारण को मिटा कर उससे उत्पन्न बुराई को समूल मिटाया जा सकता है।"

पाश्चात्य दर्शन स्यात् इसी प्रकार के सम्भव निष्कर्षों के आकर्षण से आज जनता के दिमाग पर अपने आप छाए जा रहे है और भारतीय दर्शन नवीन दृष्टि से सोचने वालो के अभाव मे तथा पुरातन सोचे हुए तथ्यो को कार्यरूप मे परिणत करने के सामर्थ्य के अभाव मे उपेक्षणीय बनते जा रहे है। यह सबके लिए एक सोचने का विषय है।

यहा के दार्शनिको ने विचार तो सूक्ष्म से सूक्ष्म किया है, परन्तु उसे प्रयोग मे कैसे उतारा जाए तथा वह प्रयोग सफल कैसे हो, इस विषय मे नही के बराबर ही सोचा मालूम पडता है। विचार-क्षेत्र मे बाल की खाल निकालने वाले सूक्ष्म-दर्शियो का प्रयोग-क्षेत्र मे यह मौन वस्तुत अखरने वाला है। जब तक सामान्य जीवन की समस्याओं को सुलझाने मे दर्शन और धर्म का हस्तक्षेप नहीं होगा, तब तक वे जन-प्रिय नही बन सकते, अत. मेरा व्यक्तिगत विचार मुझे यह कहने को प्रेरित करता है कि भारतीय दार्शनिक और धार्मिक इस विषय मे पुनः आत्म-निरीक्षण करें और नये सिरे से इस अभाव की पूर्ति कर ससार को अपने प्रकाश से जगमगा दें।

प्रश्न—धर्म का सम्बन्ध केवल आचार से ही नही, विचारो से भी है। आचार और विचार दोनो ही धर्म के समान अग हैं। तब धर्म को क्रिया-प्रधान कहा जाना कहा तक उचित है?

उत्तर—यह ठीक है कि धर्म का सम्बन्ध आचार और विचार दोनो से है; किन्तु इसी प्रकार दर्शन का भी तो सम्बन्ध दोनो से ही है। दृष्टि-विशेष

ने एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता यहाँ समझाई गई है और इसीलिए 'आचार' और 'विचार' के आगे प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—परिमार्जित विचार समूह को दर्शन कहते है। दर्शन तो अच्छा-बुरा दोनो हो सकता है, फिर परिमार्जित विचार-समूह को दर्शन क्यो कहा जाता है?

उत्तर—परिमार्जित अर्थात् मजा हुआ और सामान्य तर्कों से अबाध्य। कई बार मजे हुए विचार भी अन्त मे गलत सिद्ध हो जाते है। अतः दर्शन अच्छा और बुरा परिमार्जित विचार होने पर ही हो सकता है। वस्तुस्थिति यह भी हो सकती है कि दृष्टि-भेद होने के कारण एक का विचार दूसरे को बुरा ही प्रतीत होता है, किन्तु सम्भव है, खोजने पर उसमे अच्छाई भी मिल सके।

प्रश्न - आपने पाश्चात्य दर्शनो की विशेषता बतलाते हुए कहा कि उन्होने विचारो को क्रिया-रूप मे परिणत किया और भारतीय दर्शन केवल सूक्ष्म-विश्लेषण करने मे रहे। अब हमे भी इस दिशा मे गति करनी चाहिए, तो क्या हम ज्ञान के बिना क्रिया कर सकते है?

उत्तर ज्ञान तो क्रिया के आगे रहता ही है, किन्तु ज्ञान को ही सब कुछ मान कर हम गति को न भूल जाए। हमे गति करनी चाहिए, दर्शन तो हमारे आगे मार्ग पर प्रकाश फैलाता चलता ही है।

प्रश्न—आपने कहा—भारतीय दार्शनिको ने विचार तो सूक्ष्म से सूक्ष्म किया, पर किसी चीज को प्रयोग करके साबित नही किया। यहा पर प्रश्न यह है कि भारतीय दर्शन प्राय· निवृत्ति-प्रधान रहे है, उनमे भी जैन-दर्शन तो विशेषत निवृत्ति-प्रधान रहा है। आप जानते है कि प्रयोग के लिए अनेक प्रकार के आरम्भो की अपेक्षा रहती है। ऐसी अवस्था मे अहिंसावादी समाज इस कार्य मे कैसे भाग ले सकता है?

उत्तर—जबकि निवृत्ति-प्रधान जैन-दर्शन के उद्भट विद्वान् आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन करके यह उदाहरण उपस्थित कर दिया है कि अहिंसावादी समाज अपने विचारो को प्रयोग मे कैसे उतारें। हमे चाहिए कि इस विषय मे अभी और गहराई से सोचें। 'चाह' को 'राह' मिल ही

जाया करती है।

प्रश्न—'मै कौन हू', 'कहा से आया हू' आदि प्रश्नो के पुरस्सर ही व्यक्ति धर्म-क्षेत्र मे पादन्यास करता है, किन्तु कुछ घटनाए ऐसी भी देखी जाती है कि जिनमे इन पहलुओं पर चिन्तन किए बिना ही केवलज्ञान हो जाता है, जैसे मरुदेवी, भरत चक्रवर्ती सम्बन्धी। तो इसमे उपर्युक्त कथन की सगति कैसी हो सकती है ?

उत्तर—'मै कौन हू' आदि जिज्ञासाए जब पैदा होती है, तब उनके समाधान से दर्शन फलित होता है और व्यक्ति तब कही धर्म मे प्रविष्ट हो सकता है। मरुदेवी के कोई जिज्ञासा नही हुई, ऐसा सम्भव नही है, क्योंकि गुणस्थान आरोहण के समय शुक्ल ध्यान मे भी एकत्व या पृथक्त्व रूप विचार रहता ही है। भरत के लिए यह प्रसिद्ध ही है कि उन्होंने शरीर की शोभा-विषयक विचार करते-करते ही केवलज्ञान पाया।

प्रश्न—दर्शन से हमारे जीवन मे क्या लाभ है और दर्शन हमे क्या देता है ?

उत्तर—दर्शन हमे एक विचारशील व्यक्ति बना देता है। यही इससे हमारे जीवन मे लाभ है और यह हमे आख देता है, ऐसी आख, जिससे हम हेय, ज्ञेय और उपादेय को पहचान सके।

प्रश्न—अतीत मे सबसे बडा दार्शनिक कौन था, वर्तमान मे कौन है तथा दर्शन का सबसे बडा ग्रन्थ कौन-सा है ?

उत्तर—इस प्रश्न मे भविष्यत् मे सबसे बडा दार्शनिक कौन होगा, स्यात् यह प्रश्न छूट गया। अस्तु; अतीत मे प्राय सभी दर्शनो के अनेक प्रकाण्ड विद्वान् हुए है। उनमे से किसी एक को बडा बताना यथार्थ से दूर हटना होगा। वर्तमान मे सबसे बड़े दार्शनिक हम ही हो सकते है, क्योंकि दूसरा जो कुछ कहता है, उसका अन्तिम निर्णय हम ही करते है। दर्शन का सबसे बडा ग्रन्थ हमारा मस्तिष्क है, क्योंकि किसी भी बडे से बडे ग्रन्थ को पढ़कर हम अपने मस्तिष्क से ही उसके विषय मे उसके अच्छे या बुरे होने का निर्णय करते है।

२

जीवन और दर्शन

जीवन को हम प्रत्यक्ष रूप से देख सकते है, क्योंकि हम उसे प्रतिक्षण जी रहे है। किन्तु हमारे जीवन के क्रम मे विकास और ह्रास, उत्थान और पतन आदि आते है। उनके पीछे अवश्य ही कुछ ऐसे तथ्य है, जो कि अनुभव मे आते हुए भी प्रत्यक्ष नही है। जब उनके कारणो को खोजा जाता है, तब मनुष्य को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना होता है। यही प्रक्रिया उसे दर्शन की ओर ले जाती है। दर्शन हमारे जीवन की सूक्ष्म क्रियाओ, प्रतिक्रियाओ और उसके आसपास की सारी परिस्थितियो का एक अध्ययन ही तो है।

दर्शन का विषय सम्पूर्ण जगत् तथा सम्पूर्ण सत्य है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने इसे शास्त्रो का भी शास्त्र तथा विचारो का भी विचार कहा है। दर्शन मनुष्य के लिए अभ्युदय और नि श्रेयस् का कारण बनता है, इसीलिए वह मनुष्य के सर्वप्रिय तत्त्व सुख का भी कारण बनता है। इसी आशय को लेकर दर्शन की यह परिभाषा भी की गई है—

"यदाभ्युदयिक चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुख साधयितु मार्ग दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्॥"

ज्ञान का कोई भी क्षेत्र दर्शन की परिधि से बाहर नही होता। इसलिए अध्यात्म तथा धर्म विषयक विचार ही नही, किन्तु विज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि भी दर्शन की परिधि मे समाते है। जिस समाज का जैसा दार्शनिक विश्वास होगा, उसकी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था भी उसीके

अनुरूप होगी। उसके सदस्य व्यक्तियों की शिक्षा, उपासना तथा आचार-व्यवहार की प्रणाली भी उसी एक मूल से पनप कर विस्तृत होने वाली होगी।

कुछ व्यक्तियों का विश्वास है कि दर्शन-शास्त्र की निरर्थक चर्चाओं ने भारत को सत्त्वहीन बना दिया। देश को जब साहस और शौर्य के सन्देश की आवश्यकता थी, तब यहा के मनीषियों ने उन्हे दर्शन की अनावश्यक बातो मे उलझाए रखा। फलत वे जगत् को केवल माया समझते हुए उससे अलग रहने मे ही अपना भला मानते रहे। यह आक्षेप सत्य प्रतीत नही होता, क्योंकि जिस समय दर्शन के इन विभिन्न वादो की प्रबलता थी, वही समय भारत के लिए अन्य सभी क्षेत्रो मे भी प्रगति का रहा है। इससे लगता है कि भारत के पतन का कारण दर्शन नही; किन्तु दर्शन का जीवन से सम्बन्ध छूट जाना रहा है। जब दर्शन थोडे से पडितो या सन्यासियो के पढने-पढाने का विषय बन गया और जन-साधारण उससे इतना विलग हो गया कि उसे अपने लिए अनावश्यक मानने लगा, तब यहा की रीति-नीति और सस्कृति निष्प्राण हो गई।

आज दार्शनिको के विषय मे जो अनेक व्यग भरी कहानिया प्रचलित है, वे दर्शनो के विषय मे जनता की उदासीनता की ही परिचायक है। लोक समझते हैं कि दार्शनिक वह व्यक्ति होता है, जो अपनी बात को समझाना प्रारम्भ करता है, किन्तु उलझा कर रख देता है। एक दार्शनिक विद्वान् ने भी अपने मित्र द्वारा यह पूछे जाने पर कि अन्य अनेक विषय रहते हुए भी वे दार्शनिक ही क्यो बने, कहा था कि तुम्हारे जैसे व्यक्तियो के ऊटपटाग प्रश्नो का वैसा कुछ ऊटपटाग उत्तर देने वाला भी तो कोई चाहिए था। इस उत्तर के द्वारा उस दार्शनिक विद्वान् ने वस्तुत दार्शनिको के प्रति बनी हुई जन-धारणा को ही अपने ढग से अभिव्यक्त किया था। ये बातें दर्शन विषयक जन-मानस को अच्छी तरह से अभिव्यक्त कर देती है, किन्तु इनसे दर्शन की उपयोगिता मे कोई कमी नही आ सकती।

पशु का काम केवल उतने चल जाना है, जो कि उसे आखो से दिखाई देता है, किन्तु मनुष्य का नही। मनुष्य आखो के परे भी देखना चाहता है।

वह कार्य जगत् मे कारण जगत् की खोज करता है और यही से वह दर्शन मे पादन्यास करता है। कार्य अपनी स्थूलता के आवरण मे कारण को छिपाए चलता है। यह वात पशु के मस्तिष्क को नही, किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क को प्रेरित कर सकती है। उसी प्रेरणा के वल पर वह कार्य कारणो के सम्वन्ध की खोज करता है और उन नियमो को निकाल पाता है, जो कि उन सम्वन्धो के मूल मे होते है। एक नियम को जान लेने के वाद दूसरे वहुत से नियमो को जान लेना सहज होता जाता है और इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान-कोष मे क्रमश वृद्धि होती जाती है।

डाक्टर स्वय जव शरीर के अन्दर झाक कर नही देख सकता, तव वह 'एक्सरे' के सहारे देखता है। 'एक्सरे' शरीर के मास आदि ऊपर के पदार्थों को नही, किन्तु उनको लाघकर गहराई मे देखता है। इसी कारण उसका अपना विशेष उपयोग है। दर्शन भी उसी प्रकार वाहर की स्थूल वस्तुओ को छोड कर उनकी गहराई मे रहे अदृश्य तथ्य को देखता है। मनुष्य की इन्द्रिया जहा तक पहुँचती है, वहा तक वे जो कुछ जान पाती है, वह वहुत ही स्थूल होता है। इसलिए दर्शनकारो ने उस ज्ञान को व्यवहार मात्र माना है। वास्तविकता उससे वहुत भिन्न होती है। मनुष्य का काम वहुधा स्थूल व्यवहार पर ही आधारित होता है, अत इन्द्रिय-ज्ञान की अपनी एक अपेक्षा अवश्य है, किन्तु वस्तु-सत्य के लिए हमे उससे आगे और गहराई मे जाना आवश्यक होता है। एक व्यक्ति वोलता है और हजारो व्यक्ति एक साथ उसी एक वार वोली हुई वात को सुनते है। तव हमारे इस स्थूल कार्य के अन्तरग मे रहे कारणो की ओर स्वभावत ही जिज्ञासा पैदा होती है कि एक वार उच्चारित हुए शब्द सहस्र-सहस्र रूपो में किस प्रकार परिणत हो जाते है ? इसका उत्तर इन्द्रिया नही दे सकती, किन्तु दर्शन दे सकता है। वक्ता के मुह से निकले हुए भाषा-वर्गणा के पुद्गल वाहर के सूक्ष्म पुद्गलो मे तद्रूप कम्पन पैदा करते है और वे कम्पन क्रमश वढती हुई लहर के समान अनन्तानन्त पुद्गलो को वदाकारता मे परिणत करते जाते है। हजारो आदमी जो कुछ सुनते है, वह वक्ता के मूल शब्द नही, किन्तु वहुधा उनके प्रतिरूप ही सुनते है। इस वात को विज्ञान की भाषा मे यो

कहा जा सकता है कि शब्द वस्तु के कम्पन से उत्पन्न हुई लहरें मात्र हैं। जो वस्तु प्रति सैकिंड १६ से लेकर ४८ हजार वार तक कम्पित होती है, वह शब्द की लहरें पैदा करती है। वस्तु का इस सख्या मे कम या अधिक वार का कम्पन कानो का विषय नही बनता अर्थात् हमारे कान के यन्त्रो की क्षमता इससे कम या अधिक कम्पनो को ग्रहण करने मे असमर्थ है। श्रवणेन्द्रिय का यह इतना-सा ज्ञान भी अनेक व्यवधानो से युक्त होता है। शब्द की लहर या तद्रूप परिणत पुद्गलो का कम्पन श्रोता के कर्ण-पटल पर एक व्यवस्थित क्रम से स्पन्दन पैदा करता है और वही स्पन्दन नाडी तन्तुओ के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है। तब मस्तिष्क की उन महान् पुस्तक के बहुत पहले लिखे हुए वे पृष्ठ स्मृति-रूप मे उघडने हैं, जिनमे कि सुने जाने वाले शब्दो का अर्थात् कर्ण-पटल पर होने वाले कम्पनो का अर्थ अकित होता है। स्मृति-कोष के उन विभिन्न पृष्ठों पर अकित शब्दो के अर्थ को वर्तमान मे सुने गए शब्दो के क्रम से व्यवस्थापित करने के बाद ही हम अपने वक्ता की बात समझ पाते है।

इसी प्रकार आखें भी जो कुछ देख पाती हैं, वह भी दर्शन के हिसाब से बहुत स्थूल और अन्तरित ज्ञान ही ठहरता है। वस्तु हमारी आखो से एक व्यवस्थित दूरी पर रहती है तभी तक हम उसे देख पाते हैं, उस सीमा से अधिक या कम दूरी होने पर नही। वस्तु का जो रूप हमे दिखाई देता है, वह केवल उसकी सतह का ही रूप होता है, सर्वांग का नही। वह रूप भी विभिन्न कोणो से देखने पर विभिन्न आकार वाला दिखाई देता है। एक वृत्त को जब हम उसके पास खडे होकर देखते हैं, तब वह गोल दिखाई देता है, किन्तु थोडी दूर से देखने पर वही अडाकार दिखाई देने लगता है। रेल की पटरी पास मे बहुत चौडी और दूर पर मिलती हुई दिखाई देती है। वस्तुत: ये सब आकार अपने स्थान तथा हमारे देखने के कोण और हमारी आखो की बनावट से सापेक्ष होते हैं। वस्तु के रग भी जो आख से दिखाई देते है, वे ही नही होते। आख जहा कोई एक रग देखती है, दर्शन वहा अनेक रंगो का अस्तित्व स्वीकार करता है और वे रंग भी पुद्गलो की विशिष्ट परिणतियाँ या प्रकाश-लहरों के चक्षु द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाए गए विशेष सन्देशो के अतिरिक्त कुछ

नहीं होते।

रसनेन्द्रिय के द्वारा अनुभूत ज्ञान भी हमारी रस-ग्रन्थियों से होने वाले रसस्राव से मिल कर होता है। अतः वह वस्तु के शुद्ध रस का ज्ञान न होकर अन्तरित हो जाता है। यही कारण है कि आक आदि जो वस्तु हमारे लिए विष सदृश या कटु होती है, वही अन्य प्राणियों के लिए मधुर हो जाती है। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय द्वारा गृहीत गंध का ज्ञान भी हमारे गंधग्राही यन्त्र की बनावट से सापेक्ष है। जो गंध हमें आकर्षक लगती है, वही दूसरे प्राणियों को बुरी तथा जो हमें बुरी लगती है, वही दूसरों को आकर्षक लगा करती है। स्पर्श भी विभिन्न परिस्थितियों से विभिन्न प्रकार का लगने लगता है। एक हाथ को आग पर गर्म कर लेने तथा दूसरे को बर्फ पर ठंडा कर लेने के बाद जब दोनों हाथों को एक साथ किसी साधारण पानी के बर्तन में डाला जाता है, तब वह पानी गर्म हाथ को ठंडा और ठंडे हाथ को गर्म लगता है। इन्द्रिय ज्ञान की ये विभिन्न परिस्थितियाँ बतलाती है कि सारा का सारा इन्द्रिय ज्ञान वस्तु के मूल रूप से उतना सम्बन्धित नहीं होता, जितना कि हमारी इन्द्रिय सापेक्ष अनुभूतियों से।

हमारी इस ज्ञान-प्रक्रिया में मन भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। कोई भी इन्द्रिय-ज्ञान तब तक सम्पन्न नहीं हो सकता, जब तक कि मन उसमें सहयोगी न बने। इन्द्रियों और पदार्थों का उचित संयोग होने पर भी हर बार मन का सहयोग आवश्यक होता है। अन्यथा वह स्थिति ज्ञान की सीमा तक पहुँचती ही नहीं, केवल अध्यवसाय तक ही रह जाती है। मन यद्यपि ज्ञान के विषय में इतना उपयोगी तथा सहयोगी होता है, फिर भी वह अनुभूति सापेक्ष सत्य का ही अनुभव करा सकता है। वस्तु सापेक्ष सत्य का नहीं। बाह्य वस्तुओं का एक साथ अनेक इन्द्रियों पर प्रभाव पड़ता रहता है, किन्तु मन एक बार में किसी एक के साथ ही हो सकता है। अतः ज्ञान की प्रक्रिया बहुत धीमी और अपूर्ण हो जाती है। अन्तःकरण को एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे चिन्तन पर जाना पड़ता है। इस क्रम में जो इन्द्रियाँ तीव्रता से मन पर प्रभाव नहीं डालती, उनके विषयों का ज्ञान उस बार के लिए अकृत कार्य ही

रह जाता है। जो इन्द्रियां तीव्रता से मन को प्रचारित करती है, उनके विषयो का इतना ही तीव्र ज्ञान मन मे संचित होता है। जब मन एक विषय को छोड़ कर दूसरे पर जाता है, तब प्रथम विषय का ज्ञान स्मृति रूप मे उस पर अंकित रह जाता है, जो कि बाद मे भी संस्कार उद्बुद्ध होने पर फिर से जागृत होता रहता है। ज्ञान करने की हमारी यह प्रक्रिया बहुत अधूरी है। इसमे देश तथा काल की अपेक्षा भी अपना बहुत प्रभाव रखती है। इन सब अपेक्षाओं को साथ लेकर हम जो कुछ जान पाते है, वह केवल व्यावहारिक ज्ञान ही होता है, पारमार्थिक नही।

जैन दार्शनिको ने इसी दृष्टिकोण को लेकर प्रत्यक्ष ज्ञान को दो भेदों मे विभक्त कर दिया है—१ साव्यावहारिक प्रत्यक्ष और २ पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पहला इन्द्रिय तथा मन से होने वाला स्पष्ट ज्ञान है तो दूसरा केवल आत्मा के माध्यम से होने वाला पारमार्थिक ज्ञान अर्थात् आत्मानुभूति भाषा मे उतरते समय साव्यावहारिकता का रूप ग्रहण कर लेती है। अत वह वस्तु के व्यावहारिक रूप को ही हमारे सामने उपस्थित कर सकती है, पारमार्थिक रूप को नही। 'या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति' अर्थात् जो देखता है वह बोलता नही और जो बोलता है वह देखता नही—यह बात एक ऋषि ने उस शिकारी से कही थी, जो कि उन्हे अपने शिकार के भागने की दिशा पूछ रहा था। ऋषि ने उसे टालने के लिए चक्षु और वाणी का विषय-भेद होने तथा एक दूसरे के विषय मे प्रवेश करने का सामर्थ्य न होने की बात कह कर अपनी विवशता जाहिर की थी, किन्तु वही बात व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान के विषय मे भी कही जा सकती है।

जीवन का बहुत बड़ा भाग जहा व्यवहारों पर आधारित है, वहा उसकी भित्ति मे कुछ मूलभूत परमार्थ का होना भी सुनिश्चित है। जो व्यक्ति जीवन को केवल स्थूलता तक ही सीमित मान कर बिताते है; वे उसके मूल्य को तो गिराते ही है साथ ही सारे समाज को भी गिराते हैं। जीवन केवल शरीर ही नही है, वह उससे सूक्ष्म मन तथा उससे भी सूक्ष्म आत्मा पर आधारित है। इसीलिए शरीर की इच्छाएं और अपेक्षाएं जहा स्थूल होती है, वहा मन की

अहिंसा और दर्शन का फलित सत्य, इन दोनों की उच्चतम साधना ही उच्चतम जीवन का पथ माना गया है। अहिंसा के अभाव में सत्य और सत्य के अभाव में अहिंसा या सत्य एकांगी होता है। ये दोनों जीवन-व्यवहार में एक दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा हृदय-प्रधान है अतः कोमल और सत्य मस्तिष्क-प्रधान है अतः कठोर है, परन्तु फिर भी एक दूसरे के बिना इनका अस्तित्व टिक नहीं सकता।

अहिंसा और सत्य का विवेचनात्मक तथा सुविचारणात्मक विकास मनुष्य समाज में ही हुआ है, क्योंकि दर्शन भी मनुष्य-समाज का ही अपना विषय है। अन्य सभी प्राणियों के जीवन की भूमिका प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक प्रेरणाओं पर आधारित रहती है। वहां उनके लिए न कुछ सत्य का महत्त्व होता है और न असत्य का। न वे किसी की हिंसा में दोष या पर-पीड़न देख पाते हैं और न किसी अहिंसा में हृदय की उदात्तता। यह सब मनुष्य के लिए ही सम्भव है। उसका विकसित मस्तिष्क भूतकालीन अनुभवों तथा भविष्यत्-कालीन कल्पनाओं के आधार पर अपने वर्तमान को सुधारता-सवारता चलता है। अपनी इसी प्रवृत्ति से ही उसने अहिंसा और सत्य के तत्त्व को प्राप्त किया तथा उनके भी मूलभूत तत्त्व-दर्शन को प्राप्त किया। उसके इसी जीवन का महत्त्व वस्तुतः दर्शन की ही सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा है। यदि ऐसा नहीं होता तो मनुष्य भी आज एक पशु से बढ़कर कुछ नहीं होता। आज उसके परिष्कृत जीवन का सारा श्रेय दर्शन को ही दिया जा सकता है।

सूक्ष्म तथा आत्मा की तो वे और भी सूक्ष्म होती है। जड पदार्थों की क्रियाएं-प्रतिक्रियाए भी स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो ही प्रकार की होती है। अत यहा भी केवल स्थूलता पर दृष्टि रखने से काम नही चल सकता। मिट्टी का ढेला हमारे पैर की ठोकर से फूट जाता है, यह प्रतिदिन देखी जा सकने वाली एक स्थूल घटना है, किन्तु "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" के नियमानुसार जब यही बात अणु विस्फोट पर लागू होती है, जो कि अपेक्षाकृत एक बहुत ही सूक्ष्म प्रक्रिया है, तब स्पष्टतः यह जाना जा सकता है कि स्थूल और सूक्ष्म प्रक्रियाओ मे भी उनके नियमो का कोई ऐसा अन्तरग ऐक्य है, जो कि शोधकर्ताओ की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करता है।

किसी भी वस्तु का स्थूल या सूक्ष्म ज्ञान हमारे सारे जीवन को प्रभावित करता है, ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते है, जबकि साधारण ज्ञान की अनेक बातो को स्थूल समझ कर छोड दिया गया, किन्तु आगे चलकर वे ही बातें उन सूक्ष्म सिद्धान्तो का आविष्कार करने मे सहायक सिद्ध हुई, जो कि मानव-जीवन मे बहुत बडे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले हुए। ससार का प्रत्येक पदार्थ तथा तद्विषयक ज्ञान एक दूसरे से इतने सम्बद्ध है कि जिससे एक को जान लेने पर दूसरे को जान लेना बहुत सहज हो जाता है। 'जे एग जाणई से सव्व जाणई' यह सिद्धान्त भी वस्तुओ तथा तद्-विषयक ज्ञानो के पारस्परिक सम्बन्धो की ओर ही इगित करता है।

वस्तु-सत्य तथा तद्विषयक अनुभूति (प्रतीति) का विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र ही दर्शन के लिए पर्याप्त नही होता, सत्य का साक्षात्कार भी उसी के विषयान्तर्गत है। पश्चिम में दर्शन का विषय सत्य का वर्णन मात्र माना जाता है। अत उसके अध्ययन का मुख्य साधन तर्क-शास्त्र ही रह जाता है, किन्तु भारतीय दार्शनिको ने सत्य के साक्षात्कार को भी दर्शन का अग माना है। इसीलिए यहा के दर्शन मे योगजन्य अध्यात्म शक्तियो को भी बहुत बडा स्थान प्राप्त है। सत्यान्वेषण का मस्तिष्क है—तर्क-बल और हृदय है—अध्यात्म-बल। यहा का दर्शन दोनो का समन्वित रूप है। यही कारण है कि यहा के प्राय सभी दर्शनो के साथ अध्यात्म का सगम मिलता है। अध्यात्म का फलित

अहिंसा और दर्शन का अन्तिम सत्य, इन दोनों की उच्चतम साधना ही उच्चतम जीवन का पथ माना गया है। अहिंसा के अभाव में सत्य और सत्य के अभाव में अहिंसा का तत्त्व एकांगी होता है। ये दोनों जीवन-व्यवहार में एक दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा हृदय-प्रधान है अतः कोमल और सत्य मस्तिष्क-प्रधान है अतः कठोर है, परन्तु फिर भी एक दूसरे के बिना इनका अस्तित्व टिक नहीं सकता।

अहिंसा और सत्य का विवेचनात्मक तथा सुविचारणात्मक विकास मनुष्य समाज में ही हुआ है, क्योंकि दर्शन भी मनुष्य-समाज का ही अपना विषय है। अन्य सभी प्राणियों के जीवन की भूमिका प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक प्रेरणाओं पर आधारित रहती है। वहां उनके लिए न कुछ सत्य का महत्त्व होता है और न असत्य का। न वे किसी की हिंसा में दोष या पर-पीड़न देख पाते हैं और न किसी अहिंसा में दया की उदात्तता। यह सब मनुष्य के लिए ही सम्भव है। उसका विकसित मस्तिष्क भूतकालीन अनुभवों तथा भविष्यत्-कालीन कल्पनाओं के आधार पर अपने वर्तमान को सुधारता-संवारता चलता है। अपनी इसी प्रवृत्ति से ही उसने अहिंसा और सत्य के तत्त्व को प्राप्त किया तथा उनके भी मूलभूत तत्त्व-दर्शन को प्राप्त किया। उसके इसी जीवन का महत्त्व वस्तुतः दर्शन की ही सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा है। यदि ऐसा नहीं होता तो मनुष्य भी मात्र एक पशु से बढ़कर कुछ नहीं होता। आज उसके परिष्कृत जीवन का सारा श्रेय दर्शन को ही दिया जा सकता है।

सूक्ष्म तथा आत्मा की तो वे और भी सूक्ष्म होती है । जड पदार्थों की क्रियाएं-प्रतिक्रियाए भी स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही प्रकार की होती है। अत वहा भी केवल स्थूलता पर दृष्टि रखने से काम नही चल सकता। मिट्टी का ढेला हमारे पैर की ठोकर से फूट जाता है, यह प्रतिदिन देखी जा सकने वाली एक स्थूल घटना है, किन्तु "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" के नियमानुसार जब यही बात अणु विस्फोट पर लागू होती है, जो कि अपेक्षाकृत एक बहुत ही सूक्ष्म प्रक्रिया है, तब स्पष्टत यह जाना जा सकता है कि स्थूल और सूक्ष्म प्रक्रियाओ मे भी उनके नियमो का कोई ऐसा अन्तरग ऐक्य है, जो कि शोधकर्ताओ की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करता है ।

किसी भी वस्तु का स्थूल या सूक्ष्म ज्ञान हमारे सारे जीवन को प्रभावित करता है, ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते है, जबकि साधारण ज्ञान की अनेक बातो को स्थूल समझ कर छोड दिया गया, किन्तु आगे चलकर वे ही बातें उन सूक्ष्म सिद्धान्तो का आविष्कार करने मे सहायक सिद्ध हुई, जो कि मानव-जीवन मे बहुत बडे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले हुए । ससार का प्रत्येक पदार्थ तथा तद्विषयक ज्ञान एक दूसरे से इतने सम्बद्ध है कि जिससे एक को जान लेने पर दूसरे को जान लेना बहुत सहज हो जाता है। 'जे एग जाणई से सव्व जाणई' यह सिद्धान्त भी वस्तुओ तथा तद्-विषयक ज्ञानो के पारस्परिक सम्बन्धो की ओर ही इगित करता है ।

वस्तु-सत्य तथा तद्विषयक अनुभूति (प्रतीति) का विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र ही दर्शन के लिए पर्याप्त नही होता, सत्य का साक्षात्कार भी उसी के विषयान्तर्गत है । पश्चिम मे दर्शन का विषय सत्य का वर्णन मात्र माना जाता है । अत उसके अध्ययन का मुख्य साधन तर्क-शास्त्र ही रह जाता है, किन्तु भारतीय दार्शनिको ने सत्य के साक्षात्कार को भी दर्शन का अग माना है। इसीलिए यहा के दर्शन मे योगजन्य अध्यात्म शक्तियो को भी बहुत बड़ा स्थान प्राप्त है । सत्यान्वेषण का मस्तिष्क है—तर्क-बल और हृदय है—अध्यात्म-बल । यहा का दर्शन दोनों का समन्वित रूप है । यही कारण है कि यहा के प्राय सभी दर्शनो के साथ अध्यात्म का सगम मिलता है । अध्यात्म का फलित

अहिंसा और दर्शन का फलित सत्य, इन दोनों की उच्चतम साधना को उच्चतम जीवन का पथ माना गया है। अहिंसा के अभाव में सत्य और सत्य के अभाव में अहिंसा का तत्त्व एकांगी होता है। ये दोनों जीवन-व्यवहार में एक दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा हृदय-प्रधान है अतः कोमल और सत्य मस्तिष्क-प्रधान है अतः कठोर है, परन्तु फिर भी एक दूसरे के बिना इनका अस्तित्व टिक नहीं सकता।

अहिंसा और सत्य का विवेचनात्मक तथा सुविचारणात्मक विकास मनुष्य समाज में ही हुआ है, क्योंकि दर्शन भी मनुष्य-समाज का ही अपना विषय है। अन्य सभी प्राणियों के जीवन की भूमिका प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक प्रेरणाओं पर आधारित रहती है। वहां उनके लिए न कुछ सत्य का महत्त्व होता है और न असत्य का। न वे किसी की हिंसा में दोष या पर-पीड़न देख पाते हैं और न किसी अहिंसा में दया की उदात्तता। यह सब मनुष्य के लिए ही सम्भव है। उसका विकसित मस्तिष्क भूतकालीन अनुभवों तथा भविष्यत्-कालीन कल्पनाओं के आधार पर अपने वर्तमान को सुधारता-सँवारता चलता है। अपनी इसी प्रवृत्ति से उसने अहिंसा और सत्य के तत्त्व को प्राप्त किया तथा उनमें भी सूक्ष्मतर तत्त्व-दर्शन को प्राप्त किया। उसके इसी जीवन का महत्त्व वस्तुतः दर्शन की ही सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा है। यदि ऐसा नहीं होता तो मनुष्य भी मात्र एक पशु से बढ़कर कुछ नहीं होता। आज उसके परिष्कृत जीवन का सारा श्रेय दर्शन को ही दिया जा सकता है।

३

स्याद्वाद-दर्शन

स्याद्वाद, जैन दर्शन के मन्तव्य को भाषा मे उतारने की पद्धति को कहते है। 'स्याद्वाद'के'स्यात्' पद का अर्थ है, अपेक्षा या दृष्टिकोण और 'वाद' पद का अर्थ है—सिद्धान्त या प्रतिपादन। दोनो पदो से मिलकर बने इस शब्द का अर्थ हुआ–किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना 'स्याद्वाद' है। पदार्थ मे जो अनेक आपेक्षिक धर्म है, उन सब का यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव हो सकता है, जबकि उस अपेक्षा को सामने रखा जाए। दर्शन-शास्त्र मे नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक-व्यवहार मे छोटा-बडा, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-समीप,स्वच्छ-मलिन,मूर्ख-विद्वान् आदि अनेक ऐसे धर्म है, जो आपेक्षिक है। इन तथा इन जैसे अन्य किसी भी धर्म या गुण का जब हम भाषा के द्वारा कथन करना चाहते है, तब वह उसी हद तक सार्थक हो सकती है, जहा तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस अपेक्षा से हम जिस शब्द का प्रयोग करते है, उसी समय उसी पदार्थ के किसी दूसरे धर्म की अपेक्षा से दूसरे शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। वह भी उतना ही सत्य होगा, जितना कि पहला। साराश यह कि एक पदार्थ के विषय मे अनेक ऐसी बातें हमारे ज्ञान मे सन्निहित होती है, जो एक ही समय मे सारी की सारी समान रूप से सत्य होती हैं। फिर भी वस्तु के इस पूर्ण रूप को किसी दूसरे व्यक्ति के सामने रखते समय हम इसे विभक्त करके ही रख सकते हैं।

वस्तु सम्बन्धी हमारी सम्पूर्ण दृष्टि प्रमाण और एक दृष्टि या दृष्टिकोण नय कहलाता है।

प्रमाण-वाक्य कहे चाहे नय-वाक्य, दोनो ही स्थितियो मे उद्देश्य यही होता है कि वस्तु-प्रतिपादन मे भाषा का प्रयोग ठीक से हो और ज्ञाता उसका अभिप्राय ठीक समझे। प्रतिपाद्य के प्रति किसी भी प्रकार का अन्याय तभी रुक सकता है, जबकि प्रतिपादक अपने आग्रह और एकान्त से विमुक्त होकर यथावस्थित कथन करे। अयथार्थ कथन वैचारिक हिंसा है तो यथार्थ कथन अहिंसा। प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्यमय स्याद्वाद की इस कथन प्रणाली को वैचारिक अहिंसा का प्रतीक कहा जा सकता है, क्योकि यह प्रणाली ही कथित और कथनावशिष्ट स्वभावो को, यदि वे वस्तु मे प्रमाणित होते है तो समान रूप से स्वीकार करती है। यहा तक कि परस्पर विरोधी स्वभावो को भी जिस-जिस अपेक्षा से वे वहा प्राप्त होते है, उस-उस अपेक्षा से स्वीकार करना इस प्रणाली को अभीष्ट है। यदि ऐसा न किया जाए तो दार्शनिक पहलुओ का समाधान तो दूर रहा, साधारण व्यवहार भी नही चल सकता।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाए भिन्न-भिन्न जिज्ञासाओ के उत्तर से स्वय फलित होती है। एक वस्त्र विशेष के लिए पूछने वालो को हम उनकी जिज्ञासाओ के अनुसार ये भिन्न भिन्न उत्तर दे सकते है—

१ यह वस्त्र रूई का है।
२ यह वस्त्र मिल का है।
३ यह वस्त्र नरेन्द्र का है।
४ यह वस्त्र पहनने का है।
५ यह वस्त्र पाच रुपये का है।

अब बतलाइए यह वस्त्र किस-किस का समझा जाए? किसी एक का या पाच का? इन पाचो कथनो मे से कोई भी कथन ऐसा नही, जिसे अप्रमाणित कहा जा सके। पाचो ही बातें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से उसी एक वस्त्र के विषय मे सत्य है। पाच ही क्यो? दो गज का है, भारत का है, सन् १९५५ का है आदि और भी अनेक बातें उसके विषय मे कही जा सकती है और सबकी सब

समान रूप से सत्य हो सकते हैं। इनमें से प्रत्येक कथन वस्त्र सम्बन्धी कोई न कोई जानकारी देता है। एक वाक्य में जो बात कही गई है, दूसरे प्रत्येक वाक्य में उससे भिन्न बात कही गई है। फिर भी इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध इसलिए नहीं है कि प्रत्येक की अपेक्षाएँ भिन्न हैं। यह वस्त्र उपादान-कारण की अपेक्षा से रूई का, तो सहकारी-कारणों की अपेक्षा से मिल का और स्वामित्व की अपेक्षा से नरेन्द्र का, कार्यक्षमता की अपेक्षा से पहनने का तथा मूल्य की अपेक्षा से पांच रुपये का है। प्रश्नकर्ताओं की ये जिज्ञासाएँ—यह वस्त्र रूई का है या रेशम का? मिल का है या हाथ का? नरेन्द्र का है या वीरेन्द्र का? पहनने का है या ओढ़ने का? किस मूल्य का है?—उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने के लिए ही प्रेरित करती हैं। किसी एक उत्तर से सारी जिज्ञासाएँ शान्त नहीं हो सकतीं।

साधारण लोक व्यवहार में अपेक्षाभेद से कथन का यह प्रकार जितना मौलिक, उचित और सत्य है, उतना ही दार्शनिक क्षेत्र में भी। उपर्युक्त वस्त्र-सम्बन्धी ज्ञान में एकान्तवादिता सत्य से जितनी दूर ले जा सकती है, तत्त्वज्ञान सम्बन्धी एकान्तवादिता भी उतनी ही दूर ले जाती है, अतः दार्शनिक क्षेत्र में भी 'स्याद्-वाद' (अपेक्षावाद) का प्रयोग उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य भी है।

जैनेतर दार्शनिकों का स्याद्वाद के विषय में एक आक्षेप यह रहा है कि यदि पदार्थ 'सत्' है तो 'असत्' कैसे हो सकता है? इसी प्रकार नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि परस्पर विरोधी धर्म एक ही समय में एक पदार्थ में कैसे टिक सकते हैं? इसी तर्क के आधार पर शंकराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे विद्वानों ने स्याद्वाद को 'पागल का प्रलाप' कहकर इसकी उपेक्षा की, राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों के आधार पर 'दही, दही भी है और ऊँट भी, तो दही खाते समय ऊँट को क्यों नहीं खाते?' इस आशय का कथन कर स्याद्वाद का उपहास किया है। डा० एस० राधाकृष्णन् ने इसे 'अर्द्ध सत्य' कहकर अपूर्ण बताया है, इसी प्रकार किसी ने इसे 'छल' और किसी ने 'संशयवाद' बतलाया है। परन्तु यह उन का 'प्रत्येक विभिन्न कथन के साथ विभिन्न अपेक्षा होती है'—स्याद्वाद के इस मूल

को हृदयगम न कर सकने के कारण हुआ है। वस्तुत धारणा तथा जैनेतर ग्रन्थों मे जैन के लिए किये गए कथन को सत्य मानकर चलना भी उसमे सहायक हुए है। अन्यथा अपेक्षा भेद से 'सत्' अर्थात् 'है' और 'नही है' का कथन विरुद्ध मालूम नही देना चाहिए।

वस्त्र की दुकान पर किसी ने दुकानदार से पूछा—'यह वस्त्र सूत का है न?' दुकानदार ने उत्तर दिया —'हा साहब, यह सूत का है।' दूसरे व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय मे पूछा—'क्यो साहब, यह वस्त्र रेशम का है न? दुकानदार बोला—'नही, यह रेशम का नही है।' यहा कथित वस्त्र के लिए 'यह सूत का है,' यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही 'यह रेशम का नही है' यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय मे सूत की अपेक्षा से 'सत्' अर्थात् 'है' और रेशम की अपेक्षा से 'असत्' अर्थात् 'नही है' का कथन किसको अखर सकता है? स्याद्वाद भी तो यही कहता है। 'सत् है तो वह असत् कैसे हो सकता है?' यह शका तो ठीक ऐसी ही है कि 'पुत्र है, तो वह पिता कैसे हो सकता है?' परन्तु वह अपने पिता का पुत्र है तो अपने पुत्र का पिता भी हो सकता है। इसमे कोई विरुद्धता नही आ सकती, क्योकि अपेक्षाए भिन्न है।

स्याद्वाद के मतानुसार प्रत्येक पदार्थ 'स्व' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'सत्' है तथा 'पर' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्'। इसे सरलतापूर्वक यो समझा जा सकता है—एक घडा स्व-द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्—अस्तित्व युक्त है, पर-द्रव्य— वस्त्रादि इतर वस्तुओ की अपेक्षा से असत् है अर्थात् घडा, घडा है, वस्त्र नही।

द्रव्य के समान ही किसी बात की सत्यता मे क्षेत्र की अपेक्षा भी रहती है। कोई घटना किसी एक क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य हो सकती है। जैसे—भगवान् महावीर का निर्वाण 'पावा' मे हुआ। भगवान् के निर्वाण की यह घटना 'पावा' क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य—सत् है, परन्तु यदि कोई कहे 'भगवान् का निर्वाण राजगृह मे हुआ' तो यह बात असत्य ही कही जाएगी।

द्रव्य और क्षेत्रके समान ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता बताने के लिए काल की भी अपेक्षा है, जैसे—आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्र-

काल संवत् २००५ में किया। इसके अतिरिक्त किसी काल का कथन किया जाए तो वह अणुव्रत-आन्दोलन के सम्बन्ध में सत्यता प्रकट नहीं कर सकता।

इसी प्रकार वस्तु की सत्यता में भाव भी अपेक्षित है, जैसे—पानी में तरलता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता पहचानी जा सकती है, अन्यथा तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होगा, जो कि पानी नहीं, किन्तु उसके रूपान्तर हैं।

उपर्युक्त प्रकार से हम जान सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से ही है, परद्रव्य, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नहीं। यदि परद्रव्य आदि से भी उसकी सत्ता हो सकती तो एक ही वस्तु सब वस्तु होती और सब क्षेत्र, सब काल और सब गुणयुक्त भी होती अर्थात् एक घड़ा मिट्टी का भी कहा जा सकता और सोने, चांदी, लोह आदि का भी, कानपुर का भी कहा जा सकता और दिल्ली का भी। संवत् २००५ का भी कहा जा सकता और संवत् २००० का भी। जलाहरण के काम में भी लिया जा सकता और पहनने के काम में भी।

परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें अपनी ही सत्ता के समान ही परधर्मों की असत्ता भी विद्यमान है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से घट में 'अस्ति' शब्द का प्रयोग करने की जितनी योग्यता है, उतनी ही परद्रव्यादि की अपेक्षा से 'नास्ति' शब्द का प्रयोग करने की भी। यही कारण है कि वस्तु का स्वरूप विधि और निषेध दोनों से प्रकट होता है।

उपर्युक्त 'सत्-असत्' अर्थात् 'अस्ति-नास्ति' अर्थात् 'विधि-निषेध' के सापेक्षिक कथन के समान ही वस्तु के सामान्य-विशेष, एक-अनेक आदि विभिन्न धर्मों का भी सापेक्षिक परिचय समझना चाहिए।

स्याद्वाद का सिद्धान्त, जिस वस्तु में जो-जो धर्म प्रमाण-सिद्ध होते हों, उन्हीं निर्बाध धर्मों को स्वीकार करने का समर्थन करता है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि जो भी कल्पना हो, उसे भी स्याद्वाद के आधार पर माना जाए। उदाहरणतः, आकाश-कुसुम और वन्ध्या-पुत्र के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए स्याद्वाद की कोई अपेक्षा लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि

इनकी तो सत्ता ही असिद्ध है। स्याद्वाद का काम वस्तु को यथार्थ रूप से प्रकट करने का ही है, न कि जैसा हम चाहें वैसा वस्तु को बना देने का।

भगवान् महावीर ने जगत् को जीवन-क्षेत्र में अहिंसा की जितनी बहुमूल्य देन दी है, विचार क्षेत्र में भी 'स्याद्वाद' की उतनी ही बहुमूल्य देन दी है। अहिंसा जीवन को उदार और सर्वांगीण बनाती है तो स्याद्वाद विचारों को। एकांगी विचार अपूर्ण और वास्तविकता से दूर होता है, जबकि सर्वांगीण विचार पूर्ण और वास्तविक होता है।

५

भगवान् श्री महावीर का निर्वाण-दिवस

दीपावली का त्योहार जहा कृषि-प्रधान भारत के खेतो और खलिहानो की सम्पत्ति पर हर्ष मनाने, लक्ष्मी-पूजन तथा राम के अयोध्या-प्रवेश आदि की अनेकानेक घटनाओ को अपने मे सजोए हुए है, वहा उसके साथ अहिंसा के अप्रतिम प्रसारक भगवान् श्री महावीर के निर्वाण दिन का महत्त्व भी जुडा हुआ है।

भगवान् श्री महावीर का जन्म ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। ज्ञातृवशी राजा सिद्धार्थ उनके पिता और विदेह जनपद की राजकुमारी त्रिशला उनकी माता थी। विहार राज्य के वर्तमान मुजफ्फरनगर जिले के अन्तर्गत 'वसाढ' नामक एक छोटा-सा गाव है, किन्तु उस समय वहा वैशाली नामक भारत की प्रसिद्ध नगरी थी, जो कि महाराज चेटक की राजधानी थी। इसके पास ही क्षत्रियकुड नामक नगर था, जो कि महावीर का जन्म-स्थान था। उनके जन्म के साथ ही राज्य मे धन-धान्य और आनन्द की प्रचुर वृद्धि हुई थी, अत माता-पिता ने उनका नाम वर्द्धमान रखा था, किन्तु बाद मे वे महावीर नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुए। यह नाम जनता ने उनकी निर्भीकता, वलिष्ठता तथा सहिष्णुता को देखकर दिया था। वस्तुत उनका सारा जीवन महान् वीरता का ही जीवन था।

महावीर जिस वश मे पैदा हुए थे, उसमे स्वावलम्बन, स्वाधीनता और समता को बहुत महत्त्व प्राप्त था, अत प्रारम्भ से ही उनकी वृत्ति इन गुणो

नहीं करता हुआ समभाव मे रहूँगा।' इस प्रतिज्ञा [illegible] महावीर ने अपना साधना काल ध्यान, मौन, तप, त्याग, संयम, उपासना, तपश्चर्या और तत्त्व-चिन्तन में व्यतीत किया। यह कठोर साधना लगभग साढ़े बारह वर्ष तक निरन्तर चालू रही। फलस्वरूप उन्हें मन, वचन और तन की पूर्ण निर्दोषता प्राप्त हुई। वे वीतराग बन गए। उसी समय उन्हें कैवल्य की प्राप्ति भी हुई। इस प्रकार अपनी साधना की पूर्णता प्राप्त कर लेने के बाद उन्होने सन्यस्तो के लिए महाव्रत धर्म का और गृहस्थो के लिए अणुव्रत धर्म का उपदेश दिया। उनके स्वानुभूत विचारो से जनता मे नव-जागृति की लहर-सी दौड गई। उनके उपदेशो से प्रभावित होकर यज्ञकर्मी इन्द्रभूति आदि अनेक विद्वान् ब्राह्मण स्कन्दक आदि अनेक तापस तत्त्वदर्शी बनकर उनके शिष्य बन गए। उदयन आदि अनेक प्रभावशाली राजाओं, वैश्य, कुम्हार, कृषक और शूद्र कही जाने वाली जातियो तक ने उनकी शिष्यता स्वीकार की।

भगवान् श्री महावीर को 'जिन' अर्थात् विजेता कहा जाता है। किन्तु उन्होने किसी देश को नही जीता था, केवल अपनी आत्मा को ही जीता था। वे किसी बाह्य युद्ध मे नही, किन्तु आन्तरिक वृत्तियो के युद्ध मे विजयी बने थे। जिस प्रकार शिव ने काम को भस्म किया था, बुद्ध ने मार पर विजय पाई थी, उसी प्रकार भगवान् श्री महावीर मोह को नष्ट कर आत्मनेता बने थे। प्रत्येक साधक के लिए आत्मजयी बनना आवश्यक बतलाते हुए उन्होने कहा था—'वास्तविक विजेता वह नही है, जो भयकर युद्ध मे लाखो मनुष्यो पर विजय पा लेता है, किन्तु वह है जो अपने आप पर विजय पा लेता है।' आत्म-विजय के मार्ग पर आगे बढने वाले के लिए सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र इस रत्नत्रयी की उन्होने अनिवार्य आवश्यकता बतलाई। भौतिक पदार्थो से पृथक् आत्मा आदि तत्त्वो की श्रद्धा के बिना आत्म-विजय की भूमिका ही तैयार नही हो सकती, अत सम्यग् दर्शन होना जरूरी है। किन्तु कोरी श्रद्धा से काम नही चलता। उसके साथ मनन होना चाहिए ताकि श्रद्धा के विषयो को ज्ञान का रूप मिल सके। ज्ञान से आगे उस पर आचरण होना चाहिए, अन्यथा मनुष्य केवल शब्दो मे ही उलझ कर रह जाएगा।

खडा किया है। व्यक्ति से व्यक्ति का शोषण आगे बढकर राष्ट्र से राष्ट्र का शोषण होने लगा है। ससार अनेक शिविरो मे विभक्त होकर अपनी ही बात को पूर्णरूपेण सत्य मानने का आग्रही बना हुआ है। ऐसी स्थिति मे भगवान् श्री महावीर के उपदेश और भी अधिक आवश्यक एव सामयिक हो गए है।

भगवान् श्री महावीर ने ७२ वर्ष की सम्पूर्ण अवस्था पाई। अन्त तक वे अपने उपदेशो से भारत भूमि को आप्लावित करते रहे। अन्तिम चातुर्मास उन्होने 'पावा' मे किया और कार्तिक अमावस्या की रात्रि मे निर्वाणपद प्राप्त किया। दुनिया ने अनुभव किया कि आज अहिंसा का एक अप्रतिम प्रचारक उठ गया। भक्तजनो ने अनुभव किया कि ससार का प्रकाश स्तम्भ उठ गया। भाव प्रकाश के प्रतीक स्वरूप उन्होने द्रव्य-प्रकाश से उस रात्रि को मनाया और कार्तिक की अमावस्या दीपको के प्रकाश से जगमगा उठी।

के समय अधिकांश तो पुरुष ही रहते हैं तो कोई एक महापुरुष हो जाता है। साधारण पुरुष की शक्ति जहां कुण्ठित हो जाती है, वहां महापुरुष अपनी अप्रतिहत शक्ति से अजस्र आगे बढ़ता चला जाता है। बाधाओ और निराशाओ से घिरा रह कर भी वह हार नही मानता। वह उनके विरुद्ध लड़ता है और अन्ततोगत्वा विजयी होकर युग की साम लेता है। आचार्य श्री भिक्षु इसी प्रकार के एक महापुरुष थे। बाधाओ ने उन्हे घेरा था, पर वे रुके नही, निराशाओ ने उन्हे विचलित करने का प्रयास किया, पर वे अविचल रहे।

सत्य-शोधक

सत्य-शोध मे उन्होने अपने आत्म-कल्याण का लक्ष्य निश्चित किया। सत्य के लिए प्राण भी देने पडते तो वे उन्हे देने का दृढ सकल्प कर चुके थे। उनके मुह मे कहे गए शब्द—'मर पूरा देस्या आतमना कारज सारस्या' कितने मार्मिक और कितने दृढतासूचक है, यह हर कोई समझ सकता है। सत्यप्रेमी होना एक बात है और सत्य के लिए सर्वस्व बलिदान करना दूसरी। सत्यप्रेमी अनेक ही नही, प्राय सभी होते है, किन्तु सत्य के लिए पद, प्रतिष्ठा, सुख और चिरपालित परम्पराओ को ठोकर मार कर शत-शत आपदाओ को सहर्ष अपने ऊपर लेने वाले तो कोई विरले होते है। स्वामीजी भी उन विरले मनुष्यो मे से एक थे। 'सच्च लोगम्मि सारभूय' अर्थात् सत्य ही लोक मे सारभूत है—यह ऋषि-वाक्य उनके जीवन मे एकरस हो चुका था। सत्य को स्वीकार करने मे उन्होने कभी ढील नही की और असत्य से कभी समझौता नही किया। वे सत्य की फुनगियो पर मडराने वाले भवरे नही थे, किन्तु उसकी जड को अपने हृदय मे जमा लेने वाले उर्वर भूमितल थे। वे सत्य के जितने बड़े भक्त थे, असत्य के उतने ही बडे आलोचक थे। सत्य से उन्होने कभी मुह नही मोडा, असत्य से कभी समझौता नही किया। वे अपनी ही बात के आग्रही नही, सत्य के आग्रही थे। महात्मा बुद्ध ने कहा— परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य मद् वचो न तु गौरवात्—अर्थात् भिक्षुओ! मेरी बात को भी परीक्षापूर्वक स्वीकार करो, मैने कही है, इसलिए नही।' आचार्य भिक्षु ने कहा—'साची जाणो तो मान-ज्यो, झूठी दीज्यो छिटकाय'। असत्य को अज्ञानी व्यक्ति ही प्रश्रय दे सकता है,

वे निलिप्त भाव से जनता को आध्यात्मिक मूल्याकन की गलियों से बचाने का प्रयास करते रहे ।

राजस्थानी कवि

राजस्थानी भाषा में उन्होंने करीब ३२ हजार पद्य लिखे हैं, जिनमे अहिंसा आदि तात्त्विक विषयों पर महत्त्वपूर्ण प्रवचन से लेकर आख्यान, जीवन चरित्र, आचार और नीति आदि विषयों पर विभिन्न रागिनियों में रचे हुए ग्रन्थ हैं। 'व्यावलो' नामक एक छोटे से ग्रन्थ में उन्होंने विवाह सम्बन्धी रिवाजों पर रूपकों के रूप में काफी तीखे व्यग किये हैं। उनकी प्राय सभी रचनाएं प्राप्त हैं और उन सबको 'भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर' नाम से सग्रहीत कर लिया गया है।

जीवन परिचय

आचार्य श्री भिक्षु का जन्म राजस्थान के कण्टालिया ग्राम में सवत् १७८३ में हुआ था। वे विवाहित थे। २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृह-त्याग किया था। गम्भीर अध्ययन और विचार-मन्थन के विविध आवर्तों में से गुजर कर सवत् १८१७ में उन्होंने तेरापन्थ का प्रवर्तन किया था। निकट शताब्दियों में श्रमण-सघ को एक शृखला में आबद्ध करने का महत्त्वपूर्ण श्रेय यदि किसीको दिया जा सकता है तो वह आचार्य श्री भिक्षु को ही दिया जा सकता है। अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर आप सवत् १८६० में सिरियारी (राजस्थान) में भाद्रव शुक्ला १३ के दिन दिवगत हुए। आपके भौतिक शरीर को तिरोहित हुए आज १५७ वर्ष सम्पूर्ण हो चुके हैं, परन्तु आपके दिये गए उपदेश प्रकाश-स्तम्भ बनकर आज भी ससार को मार्ग-दर्शन करा रहे हैं। आज हम एक बार पुन अपनी समस्त नम्र भावनाओं को केन्द्रित कर उन महाप्राण भिक्षु के चरण-कमलों में श्रद्धाजलिया अर्पित करते हैं।

इस समय [illegible] और इससे सम्भावित उन्नति को ध्यान देकर अधिक [illegible] करना हमारे बाद मे होने वाले मनुष्यो के स्वरूप का बीज-वपन करना है। हम अपना स्तर ऊचा उठाकर अपना ही नही, किन्तु भावी मनुष्यो का भी हित करते है। इस कार्य का मार्ग-प्रदर्शन हम महापुरुषो के उन उपदेशो और कार्यो मे पा सकते है, जिनमे उनकी आत्मा के अन्तस्तल से उद्गत भाव आज भी सजीव बनकर हमारी ओर प्रकाश की किरणे फेक रहे है।

यदि हमारी आखे खुली रहे और हम अपने पूर्वजो की कृतियो मे से उनके विचारो की गहनता को देख सके तो पाएगे कि हमारे वर्तमान जीवन के विषय मे उन्होने इतना सुस्पष्ट विश्लेषण कर रखा है कि हम अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान उनमे पा सकते है। आज हम जिस बात पर गहराई से सोचना प्रारम्भ करेंगे, कालान्तर मे उसी बात के रहस्य को आत्मसात् करने मे सफल हो सकेंगे। महापुरुषो की शिक्षाओ का अनुशीलन करना इसी अर्थ मे हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। हमारे एक-एक आचार्य ने हमारे लिए इतनी विचार-सामग्री जुटादी है कि हम केवल उस पर चलने मात्र का पुनीत सकल्प करलें तो ससार की महान् विभूतियो मे हमारी गणना होने लगे।

मैने जयाचार्य की, जो कि तेरापथ के चतुर्थ आचार्य थे, कुछ रचनाए पढी तो मन मे ये भाव पैदा हुए कि अपने सुधार के विषय मे हमे जो सोचना चाहिए, वह तो जयाचार्य ने पहले से ही सोचकर प्रस्तुत कर दिया है। यद्यपि जयाचार्य की कृतियो का प्रमुख विषय तात्त्विक विश्लेषण रहा है, फिर भी व्यावहारिक जीवन की समस्याओ और उनके समाधान के विषय मे भी उनके मौलिक विचार गीतिकाओ और प्रकीर्ण गद्यो मे उपलब्ध है।

जयाचार्य के इस साहित्य से पता चलता है कि वे एक कवि और सघ के नेता ही नही, किन्तु धार्मिक जीवन के मार्ग-स्रष्टा भी थे। उनकी शिक्षाए धार्मिक जीवन की प्राय. सभी समस्याओ को छूने वाली है। साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओ को ही नही, भावी आचार्यो को भी उन्होने अपनी शिक्षाओ का विषय बनाया है। आचार्य श्री भिक्षु के बाद जयाचार्य ने ही

[illegible] होती है। किन्तु उनमें भी [illegible] है। क्योंकि मन में कोरे ज्ञान के सहारे [illegible] की [illegible] ही अपेक्षणीय है। [illegible] प्रकृति सुधार निम्नांकित रूप है। वे कहते हैं

"[illegible], [illegible] से भणी।
[illegible] प्रकृति नो धणी॥"

[illegible] का मनो-विश्लेषण करने के लिए उन्होंने एक [illegible] निर्माण कर दिया। किसी विषम प्रकृति वाले व्यक्ति [illegible] सम्पर्क में रहकर ध्यानपूर्वक उसके आचरणों को यदि उक्त गीतिका [illegible] वर्णित आचरणों से मिलाए तो पाएगा कि जयाचार्य ने मानव-प्रकृति का गहरा अध्ययन कर उसे बड़ी खूबी से शब्दों में व्यक्त कर दिया है। किन्तु वे केवल वर्णन करके ही नहीं रह गए, उनका उद्देश्य तो व्यक्ति की प्रकृति में परिवर्तन ला देने का था। अत वे किसी भी बुरी प्रकृति वाले व्यक्ति को शान्त मन [illegible] अपने आप सोचने के लिए प्रेरित करते हुए मालूम होते हैं। वे धीरे-धीरे [illegible] की प्रवृत्तियों को अच्छाई की ओर झुका देना चाहते हैं। इसीलिए वे ए[illegible] गीतिका में अच्छी प्रकृति वाले व्यक्ति को कैसा होना चाहिए, इसका सांगोपांग वर्णन करते हुए लिखते है—

'कठिन वचन कहे कोय, तो दिल समता घणी।
पाछो न बोलै विरुद्ध, चोखी प्रकृति नो धणी॥
न करै झोड-झखाल, वात आहारादिक तणी।
न बोलै पैलारे बीच, चोखी प्रकृति नो धणी॥
बोलै गिणवा बोल, लज्जा मन मे घणी।
सर्वभणी सुखदाय, चोखी प्रकृति नो धणी॥"

जयाचार्य इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि सघ स्थित साधुओं [illegible] चेत प्रसन्नता कभी भग नही होनी चाहिए। चित्त मे असमाधि होने

साधना-काल में ज्ञान की सतत आवश्यकता होती है। किन्तु उससे भी अधिक प्रकृति-सुधार की आवश्यकता है। क्योंकि संघ में कोरे ज्ञान के सहारे जीवन-यापन नहीं हो सकता। उसमें तो प्रकृति की ऋजुता ही अपेक्षणीय है। जयाचार्य के शब्दों में ज्ञान एक रुपया है तो प्रकृति सुधार निन्नानवे रुपये है। वे कहते है—

"पायो रूपैयो एक, पंडित भयो ते भणी।
पिण प्रकृति निन्नाणू रह्या शेष, चोखीली प्रकृति नो धणी॥"

विषम प्रकृति वाले साधु का मनो-विश्लेषण करने के लिए उन्होंने एक सम्पूर्ण गीतिका का ही निर्माण कर दिया। किसी विषम प्रकृति वाले व्यक्ति के सम्पर्क में रहकर ध्यानपूर्वक उसके आचरणों को यदि उक्त गीतिका में वर्णित आचरणो से मिलाएं तो पाएंगे कि जयाचार्य ने मानव-प्रकृति का गहरा अध्ययन कर उसे बड़ी खूबी से शब्दो मे व्यक्त कर दिया है। किन्तु वे केवल वर्णन करके ही नही रह गए, उनका उद्देश्य तो व्यक्ति की प्रकृति मे परिवर्तन ला देने का था। अत वे किसी भी बुरी प्रकृति वाले व्यक्ति को शान्त मन से अपने आप सोचने के लिए प्रेरित करते हुए मालूम होते है। वे धीरे-धीरे मन की प्रवृत्तियो को अच्छाई की ओर झुका देना चाहते है। इसीलिए वे एक गीतिका मे अच्छी प्रकृति वाले व्यक्ति को कैसा होना चाहिए, इसका सागोपाग वर्णन करते हुए लिखते है—

'कठिन वचन कहे कोय, तो दिल समता घणी।
पाछो न बोलै विरुद्ध, चोखी प्रकृति नो धणी॥
न करै झोड-झखाल, बात आहारादिक तणी।
न बोलै पैलारे बीच, चोखी प्रकृति नो धणी॥
बोलै गिणवा बोल, लज्जा मन मे घणी।
सर्वभणी सुखदाय, चोखी प्रकृति नो धणी॥"

जयाचार्य इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि संघ स्थित साधुओं की चेत. प्रसन्नता कभी भग नही होनी चाहिए। चित्त मे असमाधि होने का

कहते है—

"निराम्य चोट गगणी पहली धारनै, अगवाण निरो गुनिगया"

शासन व्यवस्था को सुदृढ रखने के लिए किसी समय त्रुटि होने पर कठोर शब्दो मे भी गुरु शिक्षा देते है। अन्दर से चाहे वे कितने ही कोमल क्यो न हो, पर बाहर का कठोरपन कटु औषधि की तरह बड़ा ही भयानक प्रतीत होता है। छिछले मनुष्य उस स्थिति का सामना करते समय अपना आपा खो बैठते है। परन्तु गम्भीर मनुष्य को ऐसे समय मे और भी अधिक सचेत रहकर अपनी परीक्षा मे उत्तीर्ण होना चाहिए। उनकी ओर इंगित करते हुए वे लिखते है—

"कठिन वचन गुरु सीख दिए पिण, कलुष भाव नही ल्यावै।
उलट धरी कर जोड आदरै, विनन चित्त नवि थावै॥"

इसी प्रकार के सहनशील और गुरुभक्त मुनियो पर ही शासन के भार की धुरा रहा करती है। शासन अकेले आचार्य का नही होता, वह तो सघ के होने से ही होता है। अत प्रत्येक साधु पर इसका भार है। अपने भार को सुचारुरूप से वहन करने वाले ही शासन की शोभा बढा सकते है। ऐसे साधुओ के निर्माण करने के लक्ष्य से ही जयाचार्य ने अपने जीवन का बहुत-सा समय इस कार्य मे लगाया था।

जयाचार्य चतुर्मुखी सुधार चाहते थे। वे केवल साधुओ को शिक्षा देकर ही मौन नही रह गए। उन्होने आचार्य के कार्यों को भी सजग दृष्टि से देखा और उसका साधुओ पर क्या असर हो सकता है, इसका विश्लेषण करके आचार्यों के कर्तव्य का मार्ग-दर्शन किया। वे एक बहुत बडे अनुभवी आचार्य थे। अत उनसे यह छुपा नही था कि आचार्य के प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक कार्य का साधुओ के जीवन पर असर होता है। साधुओ का आचार्य के प्रति जितना कर्तव्य है उससे कही अधिक आचार्य का साधुओ के प्रति होता है। साधुओ का जीवन आचार्य की छत्रछाया मे सुरक्षित है। पर वे उनके जीवन का किस प्रकार से उपयोग करते है—यही नियमन व्यवस्था चारुता की कुजी है। विचित्र विचार और विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियो को किस प्रकार सामूहिक रूप से समाधि-सम्पन्न किया जा सकता है, यही आचार्य के सफल नेतृत्व

का कपोपल है। यदि इन कार्यों मे किसी आचार्य को सफलता मिलती है तो उसके अनुशासनवर्ती साधु-समाज अपनी साधना के चरम लक्ष्य को बहुत नजदीक कर लेता है। अन्यथा लक्ष्य से भटक कर पारस्परिक कलह मे फसकर उससे और भी अधिक दूर चला जाता है।

प्रत्येक अनुशासक उदारचेता बनकर ही सफल हो सकता है। सब प्रकार के व्यक्तियों का निर्वाह करना अनुशासन-धर्म का पहला नियम है और वह बिना उदारता के हो नही सकता। इस बात को जयाचार्य यो व्यक्त करते है—

"कोइक तो हुवै तनरो रोगी, कोई मनरो रोगी धारी।
नीत हुवै चारित्र पालणरी, सीख दिए हितकारी॥"

अलग विचरने वाले साधु-साध्वियो की प्रकृति परस्पर मेल खाती है या नही? जिन क्षेत्रो मे वे विचरते हैं, वहा कैसा उपकार करते है? आचार, मर्यादा और आज्ञा का पालन कैसा करते है? आदि अनेक बातें आचार्य को स्वय ध्यान देकर परखनी चाहिए। गण की वृद्धि इन्ही सब बातो की चारुता पर निर्भर है। आचार्य के कर्तव्य की यह एक प्रमुख कडी है। इसकी उपेक्षा करना आचार्य के लिए कभी शक्य नही समझा जा सकता। इस विषय मे आप फरमाते है—

"गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह।
बाहुल दर्शन विन किए, विचरण आण म देह॥
गण वृद्धि चाहो सुगणपति, चतुर्मास उतरेह।
सत सती आवै तसु, पूछा सर्व करेह॥"

पारस्परिक किसी विवाद का निर्णय करना आचार्य का ही कर्तव्य होता है। अत निष्पक्ष न्याय के लिए जयाचार्य एक जगह लिखते है—

"आचार्य ने इण प्रवृत्ति स्यू रहणो, इण प्रवृत्ति स्यू रह्या गुण घणो नीपजै। न्याय मे तीखी मुरजो वाला री तथा थोडी मुरजी वाला री पक्ष राखणी नही। ⋯ आपरा साझ वाला री पक्ष राख नै घणी खामी हुवै तो थोड़ी दिखावै, पैला रा साझ वालारी थोड़ी खामी हुवै तो घणी दिखावै,

श्रोर फिर जयाचार्य स्वय इसका समाधान यो करते है—

"इणरै शब्दादिक री चाह, मन माही अधिक उमेदै।
जोग मिनै नही ताय, तिण कारण श्रो दुख वेदे॥
क्रोधादिक च्यार कषाय, ज्ञानादिक गुण नै भेदै।
तिणरे जबर कषाय नो जोर, तिण कारण श्रो दुख वेदे॥
जश हेतु विनय विचार, ते तिण इणम्यू करणी नावै।
श्रविनीता रो जश नही होय, तिण कारण श्रो सिदावै॥"

'अन्य मनुष्य निरोग है, यह रोगी क्यो रहता है ?' यह पूछने से तथा 'अमुक कारणो मे यह रोगी हुआ है' यह बतला देने मे किसी रोगी का रोग मिट नही जाता। उसे तो समुचित औषध-प्रदान की आवश्यकता है। आन्तरिक (आत्मिक) रोग के लिए भी यही नियम लागू है। अत जयाचार्य स्थान-स्थान पर असमाधि को दूर करने के उपायो पर प्रकाश डालते है। सयम मे हुई अरति को हटाकर रति मे परिणत कर देना चाहते है। एक जीर्ण पत्र पर लिखा हुआ उनका यह गद्य इसका ठोस प्रमाण है—

"अरति न आणणी, कोई वेला आया टालवा रो उद्यम करी मेटणी। विरागदशा थी, तथा सूत्र री गाथा थी, तथा कर्म काटवा री दृष्टि थी। तथा अरतिपणा थी अवगुण ऊपर दृष्टि देई अरतिपणा रो रोग जडामूल मेटणो। आचारागे कह्यो—'अरइ आउट्टे से मेहावी' अरतिपणा थी निवर्ते ते मेधावी —पडित इम विचारी नै, तथा 'लाभालाभे सुहेदुहे' ए गाथा विचारी अरतिपणो मेटणो, तथा 'अरइ पिट्ठओ किच्चा' ए गाथा नो अर्थ विचारी तीव्र शुभ ध्यान अवलबी अत्यन्त लीन पणै थई इत्यादि अनेक उपाय कर अरतिपणो मेटणो। अरतिपणा रो खध जडामूल थी उखेल्या परम-आनन्द-रूप सुख, चित्त समाधि, सन्तोष पामै।"

इस मानसिक असमाधि के कारण और अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है। अत पहले इसको मिटाना परम आवश्यक है। अन्य अवगुण तो प्राय इसी एक मूल मे पैदा होने वाले पत्र, फूल और फल के रूप मे होते है। अत कही ऐसा न हो कि असमाधि मे पडकर वह अपने सम्यक्त्वादि गुणो की भी उपेक्षा

८

भारत विभूति आचार्य श्री तुलसी

आध्यात्मिकता और नैतिकता का सन्देश लिए, 'चरं वेति चरं वेति' ऋषि वाक्य को प्रेरणा-सूत्र बनाए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी अपनी अखण्ड यात्रा पर बढ़े ही जा रहे हैं। न कोई घर, न कोई द्वार यों सारे ही घर और द्वार उनके अपने ही हैं, कोई पराया तो है ही नहीं। उन्हें कौन अपना मानता है और कौन पराया, इसकी तनिक भी परवाह किए बिना, वे सबको ही अपना मानकर चलते हैं। शरीर थके तो थके, उनका मन कभी नहीं थकता, श्रद्धा कभी नहीं थकती। शरीर की थकावट को वे अपनी थकावट मानते भी नहीं। एक ही लगन और एक ही बात—'चरित्र का विकास हो'। वे मानते हैं कि चरित्र के विकास की आवश्यकता अमीर को ही नहीं, गरीब को भी है। जनता को ही नहीं, नेता को भी है। इसलिए वे सबसे अपने चरित्र-विकास की अपील करते हैं। कोई उसे केवल सुनता है तथा कोई सुनता और तदनुसार करता भी है। कोई नहीं सुनता तथा सुनकर भी नहीं मानता है। वे किसी का भी बुरा नहीं मानते, अपना कर्तव्य किये जाते हैं, फल की ओर से निश्चिन्त और निस्पृह। पर वे मानते हैं कि विचार का बीज निष्फल कभी नहीं जा सकता। पर उसका फल सदैव दृश्य ही हो, आवश्यक नहीं है।

मानवता के प्रति श्रद्धा

आचार्य श्री तुलसी की मानवता के प्रति अगाध श्रद्धा है। वे मानते हैं कि मानवता सुप्त या मूर्च्छित तो हो सकती है, पर मृत कभी नहीं हो

इसी रीत चाला री निर्णय किया जिण मानणी नही ।"

न्याय की दृष्टि को प्रमुख स्थान देते हुए दूरदर्शी जयाचार्य एक स्थान मे अधिकों का रहना उपयोगी नही समझते थे। असाम्य और अव्यवस्था को मिटाकर विकेन्द्रीकरण करना व्यवस्था के लिए वे आवश्यक समझते थे। अत इसी लक्ष्य से उन्होने कहा है—

'गणी समीपे बहु रहै, तो बहु साझ करेह।
पिण एक साझे बहु अज्जा, नेठाऊ मत देह॥"

इस प्रकार उनकी प्रत्येक शिक्षा मे एक विलक्षण वैज्ञानिकता टपकती है। वे अपने सामर्थ्य से तेरापथ को अपूर्व देन दे गए है। वे एक आध्यात्मिक शिक्षादाता थे, अत उनकी अपनी वृत्तिया भी इसी ओर झुकी हुई थी। वे केवल पर-शिक्षक ही नही थे, अपने आपको भी वे अपनी शिक्षा का विषय बना लिया करते थे। यही पर उनकी महत्ता की विशिष्ट झलक हमे देखने को मिलती है। जबकि वे कहते है —

"जीता जन्म सुधार, तपजप कर तन ताडए।
खिण मे हुवै तन छार, दिन थोडा मे देखजे॥
स्तुति, जस, परसस, हियडै सुण नवि हरखिए।
अवगुण द्वेष न अश, सुण तू जय निज सीखडी॥
वैरी मान विखेर, जय नरमाई गुण जपै।
हिवडे पर गुण हेर, निज अवगुण सुण निंद मा॥"

ऐसे और भी अनेक पद्य है, जो कि उनकी आत्म-निरीक्षण वृत्ति के उज्ज्वल उदाहरण कहे जा सकते है। यत्र-तत्र जीर्ण पत्रो मे बिखरे हुए ये शिक्षा-रत्न आज भी हमे उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दिखा रहे है।

८

भारत विभूति आचार्य श्री तुलसी

आध्यात्मिकता और नैतिकता का सन्देश लिए, 'चरै वेति चरै वेति' ऋषि वाक्य को प्रेरणा-सूत्र बनाए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी अपनी अखण्ड यात्रा पर बढे ही जा रहे है। न कोई घर, न कोई द्वार यो सारे ही घर और द्वार उनके अपने ही है, कोई पराया तो है ही नही। उन्हें कौन अपना मानता है और कौन पराया, इसकी तनिक भी परवाह किए विना, वे सबको ही अपना मानकर चलते है। शरीर थके तो थके, उनका मन कभी नही थकता, श्रद्धा कभी नही थकती। शरीर की थकावट को वे अपनी थकावट मानते भी नही। एक ही लगन और एक ही बात—'चरित्र का विकास हो'। वे मानते है कि चरित्र के विकास की आवश्यकता अमीर को ही नही, गरीब को भी है। जनता को ही नही, नेता को भी है। इसलिए वे सबसे अपने चरित्र-विकास की अपील करते है। कोई उसे केवल सुनता है तथा कोई सुनता और तदनुसार करता भी है। कोई नही सुनता तथा सुनकर भी नही मानता है। वे किसी का भी बुरा नही मानते, अपना कर्तव्य किये जाते है, फल की ओर से निश्चिन्त और निस्पृह। पर वे मानते हैं कि विचार का बीज निष्फल कभी नही जा सकता। पर उसका फल सदैव दृश्य ही हो, आवश्यक नही है।

मानवता के प्रति श्रद्धा

आचार्य श्री तुलसी को मानवता के प्रति अगाध श्रद्धा है। वे मानते है कि मानवता सुप्त या मूच्छित तो हो सकती है, पर मृत कभी नही हो

सकती। वे उसे जगाने और सचेत करने के प्रयत्नों में लगे हैं। उन्हें विश्वास है कि अनाचार और अनैतिकता की बाढ़ सामयिक है, शाश्वत नहीं। उसे मिटना ही होगा और मानवता का सजग या सावधान होना ही होगा, आज नहीं तो कल और कल नहीं तो कुछ आगे पीछे। उनका धैर्य और कार्य-सातत्य अद्भुत है। उनकी विचार धारा भी परिपूर्ण और स्पष्ट है, उसमें कहीं उलझन या गांठ नहीं। एक सिरे से दूसरे सिरे तक परख लेने पर भी कोई अटक नहीं, वैषम्य नहीं। उससे सहमत या असहमत होना और उसकी सफलता के विषय में विश्वास रखना यह बात दूसरी है।

समय का गमाना और पाना

उन्होंने अपने समय का प्राय अधिकांश भाग अणुव्रत-आन्दोलन में ही लगा दिया है। वे अपना समय लोगों में बैठकर गमाते तो अवश्य हैं, पर निरर्थक कभी नहीं गमाते। कभी-कभी मधुर स्मित के क्षणों में उन्हें अपना समय वापस मागते भी सुना गया है। एक बार लाडनूं में उन्होंने युवक-सम्मेलन में अपना भाषण समाप्त किया ही था कि एक कार्यकर्त्ता ने खड़े होकर सूचना देते हुए कहा—'एक घड़ी मिली है, किसी की खोई हो तो आकर ले ले।' इतना कह कर वह बैठ भी न पाया था कि आचार्य श्री ने कहा—एक घड़ी (समय-विशेष) मैंने भी आप लोगों के बीच में खोई है। देखें तो कौन-कौन लाकर देते हैं ? हर्ष विभोर युवकगण खिलखिला उठा। हां, तो यों वे समय गमाते भी हैं और पाते भी हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा वे समाज के हर तबके में सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह आदि का वातावरण निर्माण करना चाहते हैं। सत्य, जिसे आज ठुकराया जा रहा है, आध्यात्मिक विकास के लिए वे उसकी पुन प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। अहिंसा के अभाव में जहां तक आज मनुष्य ही मनुष्य का वैरी बन गया है, वहां साम्यवृत्ति के उदय से निर्भयता को विकसित करने के लिए उसकी परम आवश्यकता पर वे बल देते हैं। अहिंसक मन के बिना दूसरे किसी भी पात्र में सत्य का अमृत टिक नहीं सकता और सत्य के बिना अहिंसा की पूर्णता प्राप्त की नहीं जा सकती। इन दोनों की ही तरह अपरि-

ग्रह की वृत्ति भी समाज के हर व्यक्ति मे वे आवश्यक बतलाते हैं, क्योंकि परिग्रह से सग्रह बढता है और सग्रह सदैव अभाव का जनक रहा है। एक स्थान का अतिभाव, दूसरे स्थान का अभाव हुए बिना रह नही सकता। अत अपरिग्रह की भावना अतिभाव और अभाव का मध्यमार्ग होकर समभाव पैदा करने मे सहायक होगी। इस तरह का व्रती जीवन किसी के द्वारा ऊपर से थोपा नही जा सकता, उसे तो स्वय अपने ही विवेक के आधार पर पनपना होगा, जो कि अन्तरग की सत्प्रवृत्तियो के जागरण पर ही सम्भव है। इसीलिए आचार्य श्री तुलसी प्रस्तुत आन्दोलन के द्वारा सत्प्रवृत्तियो को जगाते है और जागने पर उनकी प्रगति के लिए दिशा-सूचन करते है।

आचार्य श्री तुलसी भारत के एक महान् सत है। वे मनीषी होने के साथ-साथ उस सत-परम्परा के भी सुयोग्य अधिकारी है, जिसने अनेक बार जनता के जीवन मे नैतिक मूल्यो का पुन. सस्थापन करने का गौरव प्राप्त किया है। यो तो भारतवर्ष की जनता सदा से ही धर्म और नैतिकता को प्रधानता देती रही है, फिर भी समय समय पर अधार्मिकता या अनैतिकता यहा उभार खाती रही है। दासता की इन पिछली शताब्दियो मे उसका रूप कुछ उग्र हो गया। सन् ४७ मे जब भारत को स्वतत्रता मिली, तब तक अनैतिकता की स्थिति यहा तक पहुच चुकी थी कि भूतकाल मे उसका ऐसा रूप देखने मे शायद ही आया हो। व्यापार, न्याय, व्यवस्था, शासन और सेवा आदि के प्राय सभी क्षेत्रो मे इसका ऐसा विस्तार हुआ कि नीतिपूर्वक जीवन बिताने से लोगो की श्रद्धा ही हिलने लग गई। उस समय देश के जिन मनीषियो के मन मे इस स्थिति को बदलकर नैतिकता की पुन स्थापना करने का सकल्प उत्पन्न हुआ, उनमे से एक आचार्य श्री तुलसी है।

सवेदनशील मानस

'आजकल नैतिकता के आधार पर जीवन चला सकना असम्भव है'—पास मे बैठे कुछ व्यक्तियो के इस पारस्परिक वार्तालाप ने आचार्य श्री तुलसी के मन मे एक उथल-पुथल मचा दी। व्यक्तियों के मन मे अश्रद्धा या अविश्वास किस हद तक घुस चुका है—यह इस एक बात से ही स्पष्ट हो गया। उसी

दिन प्रभातकालीन व्याख्यान मे आचार्य श्री ने कम से कम २५ ऐसे व्यक्तियो की माग की, जो अनैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सके और सम्भावित हर कठिनाइयो का सामना कर सके । वातावरण मे सहसा एक गम्भीरता छा गई । उपस्थित व्यक्ति आचार्य श्री तुलसी के आह्वान और अपने आत्मबल को तोलने लगे । मनो मथन का वह एक अद्भुत दृश्य था । कुछ देर तक सभा का वातावरण बिलकुल मौन-सा रहा, किन्तु तभी आस-पास से कुछ व्यक्ति खडे हुए और उन्होने आचार्य श्री तुलसी द्वारा निर्दिष्ट नियमो पर चलने के लिए अपने नाम पेश किए । वातावरण उल्लास से भर गया और एक-एक करके २५ नाम आचार्य श्री तुलसी के पास आ गए । यह घटना केवल अणुव्रत-आन्दोलन के प्रारम्भ की प्रेरणात्मकता ही व्यक्त नही करती, किन्तु आचार्य श्री तुलसी की उस सवेदनशीलता को भी व्यक्त करती है, जिससे कि वे जनता के मानसिक परिवर्तन को शीघ्रता से पहचान लेते है और फिर उसका उपचार करने के लिए भी उतनी ही शीघ्रता बरतते है ।

निर्भीक और सरल व्यक्तित्व

आचार्य श्री प्रारम्भ से ही निर्भीक रहे है । कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी वे घबराते नही । अणुव्रत-आन्दोलन के दश वर्षों के छोटे से इतिहास मे उन्हे आन्तरिक तथा बाह्य दोनो ही प्रकार के विरोधो का सामना करना पडा है, फिर भी वे उत्तेजित नही हुए, शान्ति से कार्य करते रहे । दुर्भावना-पूर्ण किए जाने वाले विरोधो के उत्तर का उनका यही तरीका रहा है । वे जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए जहा तैयार रहते है, वहा थोथी वितण्डा से बचना भी चाहते है । अपनी बात को शब्दो के आडम्बर मे न उलझाकर बहुत ही सरल और स्पष्ट तरीके से जनता के सामने रख देने का उन्हें स्वाभाविक अभ्यास है, इसीलिए उनकी बात का प्राय अचूक असर होता देखा गया है । उनकी मान्यता है कि समन्वय का दृष्टिकोण हो तो करीब पञ्चानवे प्रतिशत बातो मे हर जगह मतैक्य मिल सकता है । पाच प्रतिशत विचार-भेद होना कोई बडी बात नही है । हमे अभेद पर जोर देना चाहिए । भेद वाली बातो पर चिन्तन चलता रहे, किन्तु उसको प्रमुख बना कर मनुष्य-मनुष्य के

बीच मे विरोध पैदा कर देना उचित नही है। यही कारण है कि विरोध का रूप रखने वाले व्यक्ति भी उनके सामने आकर अपना विरोध निभा सकने मे अपने को असमर्थ पाते है। उनके तर्क आचार्य श्री तुलसी के निर्भीक और सरल व्यक्तित्व के सामने कुण्ठित हो जाते है। सामने केवल वे सिद्धान्त रह जाते है, जिन पर कि आचरण करना आवश्यक होता है और उनमे किसी का कोई विरोध नही होता।

नैतिक जागरण के अग्रदूत

नैतिक-जागरण के इस अभियान मे जनता के हर वर्ग को सावधान कर देना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है, जब कि हर तबके के व्यक्तियो से सम्पर्क किया जाए। आचार्य श्री तुलसी इसी उद्देश्य से जहा जाते है, वहा जनता के प्राय सभी वर्गो से सम्बन्ध रखते हैं। आन्दोलन के अन्तर्गत वर्गीय कार्य-क्रमो के आधार पर वे समाज के हर पहलू के अन्तरग को छूते है। मन्त्रियो से लेकर मजदूरो तक, धनाढ्यो से लेकर गरीबो तक उनकी आवाज पहुचती है। सहस्रो व्यक्तियो को उन्होने अनैतिकता से हटाकर नैतिकता के पथ पर ला दिया है और लाखो व्यक्तियो के विचारो मे नैतिकता के प्रति आस्था उभारी है। कुछ उदाहरणो से यह बात विशेष रूप से स्पष्ट हो जाएगी। एक व्यापारी पर दो सौ रुपये का टेक्स अधिक लगा दिया गया था तो उसने उसका मुकदमा लडना शुरु किया। उसके हितैषियो न उसे समझाया कि इतने से रुपयो के लिए क्यो निरर्थक ही और रुपये बरबाद कर रहे हो। व्यापारी जो कि एक अणुव्रती है, ने कहा—मै रुपयो के लिए नही लड रहा हू, किन्तु रुपये देकर झूठा बनू—यह मेरे लिए सह्य नही है, अत मै सत्यता के लिए लड रहा हू। दूसरा उदाहरण एक कैदी का है। पिछली दिल्ली-यात्रा मे आचार्य श्री तुलसी का एक प्रवचन दिल्ली सेट्रल जेल मे भी हुआ था। कुछ ही दिन बाद एक भाई ने सिपाही के साथ एक कैदी को जाते देखकर उससे बातचीत की और पूछा—क्या तुमने जेल मे आचार्य श्री तुलसी का भाषण सुना था? कैदी ने कहा—हा सुना तो था, लेकिन कुछ देरी से। यदि मै वह भाषण कुछ दिन पहले सुन पाता तो मुझे यहा जेल मे आना ही न पडता। इन दोनो उदाहरणो

दिन प्रभातकालीन व्याख्यान मे आचार्य श्री ने कम से कम २५ ऐसे व्यक्तियो की माग की, जो अनैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सकें और सम्भावित हर कठिनाइयों का सामना कर सकें। वातावरण मे सहसा एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति आचार्य श्री तुलसी के आह्वान और अपने आत्मबल को तोलने लगे। मनो-मथन का वह एक अद्‌भुत दृश्य था। कुछ देर तक सभा का वातावरण बिलकुल मौन-सा रहा, किन्तु तभी आस-पास से कुछ व्यक्ति खडे हुए और उन्होंने आचार्य श्री तुलसी द्वारा निर्दिष्ट नियमो पर चलने के लिए अपने नाम पेश किए। वातावरण उल्लास से भर गया और एक-एक करके २५ नाम आचार्य श्री तुलसी के पास आ गए। यह घटना केवल अणुव्रत-आन्दोलन के प्रारम्भ की प्रेरणात्मकता ही व्यक्त नही करती, किन्तु आचार्य श्री तुलसी की उस सवेदनशीलता को भी व्यक्त करती है, जिससे कि वे जनता के मानसिक परिवर्तन को शीघ्रता से पहचान लेते है और फिर उसका उपचार करने के लिए भी उतनी ही शीघ्रता बरतते है।

निर्भीक और सरल व्यक्तित्व

आचार्य श्री प्रारम्भ से ही निर्भीक रहे है। कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी वे घबराते नही। अणुव्रत-आन्दोलन के दश वर्षों के छोटे से इतिहास मे उन्हें आन्तरिक तथा बाह्य दोनो ही प्रकार के विरोधो का सामना करना पडा है, फिर भी वे उत्तेजित नही हुए, शान्ति से कार्य करते रहे। दुर्भावनापूर्ण किए जाने वाले विरोधो के उत्तर का उनका यही तरीका रहा है। वे जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए जहा तैयार रहते है, वहा थोथी वितण्डा से बचना भी चाहते है। अपनी बात को शब्दो के आडम्बर मे न उलझाकर बहुत ही सरल और स्पष्ट तरीके से जनता के सामने रख देने का उन्हें स्वाभाविक अभ्यास है, इसीलिए उनकी बात का प्राय अचूक असर होता देखा गया है। उनकी मान्यता है कि समन्वय का दृष्टिकोण हो तो करीब पच्चानवे प्रतिशत बातो मे हर जगह मतैक्य मिल सकता है। पाच प्रतिशत विचार-भेद होना कोई बडी बात नही है। हमे अभेद पर जोर देना चाहिए। भेद वाली बातो पर चिन्तन चलता रहे, किन्तु उसको प्रमुख बना कर मनुष्य-मनुष्य के

बीच मे विरोध पैदा कर देना उचित नही है। यही कारण है कि विरोध का रूप रखने वाले व्यक्ति भी उनके सामने आकर अपना विरोध निभा सकने मे अपने को असमर्थ पाते है। उनके तर्क आचार्य श्री तुलसी के निर्भीक और सरल व्यक्तित्व के सामने कुण्ठित हो जाते है। सामने केवल वे सिद्धान्त रह जाते है, जिन पर कि आचरण करना आवश्यक होता है और उनमे किसी का कोई विरोध नही होता।

नैतिक जागरण के अग्रदूत

नैतिक-जागरण के इस अभियान मे जनता के हर वर्ग को सावधान कर देना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है, जब कि हर तबके के व्यक्तियो से सम्पर्क किया जाए। आचार्य श्री तुलसी इसी उद्देश्य से जहा जाते है, वहा जनता के प्राय सभी वर्गों से सम्बन्ध रखते है। आन्दोलन के अन्तर्गत वर्गीय कार्य-क्रमो के आधार पर वे समाज के हर पहलू के अन्तरग को छूते है। मन्त्रियो से लेकर मजदूरो तक, धनाढ्यो से लेकर गरीबो तक उनकी आवाज पहुचती है। सहस्रो व्यक्तियो को उन्होने अनैतिकता से हटाकर नैतिकता के पथ पर ला दिया है और लाखो व्यक्तियो के विचारो मे नैतिकता के प्रति आस्था उभारी है। कुछ उदाहरणो से यह बात विशेष रूप से स्पष्ट हो जाएगी। एक व्यापारी पर दो सौ रुपये का टैक्स अधिक लगा दिया गया था तो उसने उसका मुकदमा लडना शुरु किया। उसके हितैषियो ने उसे समझाया कि इतने से रुपयो के लिए क्यो निरर्थक ही और रुपये बरबाद कर रहे हो। व्यापारी जो कि एक अणुव्रती है, ने कहा—मै रुपयो के लिए नही लड रहा हू, किन्तु रुपये देकर झूठा बनू—यह मेरे लिए सह्य नही है, अत मै सत्यता के लिए लड रहा हू। दूसरा उदाहरण एक कैदी का है। पिछली दिल्ली-यात्रा मे आचार्य श्री तुलसी का एक प्रवचन दिल्ली सेंट्रल जेल मे भी हुआ था। कुछ ही दिन बाद एक भाई ने सिपाही के साथ एक कैदी को जाते देखकर उससे बातचीत की और पूछा—क्या तुमने जेल मे आचार्य श्री तुलसी का भाषण सुना था? कैदी ने कहा—हा सुना तो था, लेकिन कुछ देरी से। यदि मै वह भाषण कुछ दिन पहले सुन पाता तो मुझे यहा जेल मे आना ही न पड़ता। इन दोनो उदाहरणो

से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य श्री की प्रेरक वाणी से जनता मे नैतिकता के प्रति आस्था बढी है। नैतिक जागरण के इस पुनीत कार्य को आगे बढाने के लिए उनकी सतत चालू रहने वाली पैदल-यात्रा विशेष रूप से सहायक बनी है। पजाब, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार व बगाल आदि की यात्रा वे कर चुके है।

जीवन-परिचय

राजस्थान के लाडनू शहर मे सवत् १९७१ की कार्तिक शुक्ला द्वितीया को आचार्य श्री का जन्म हुआ। ११ वर्ष की अवस्था मे दीक्षित होकर उन्होने जैन-सिद्धान्तो का अध्ययन शुरु किया। दीक्षा के बाद ११ वर्ष के काल मे सस्कृत तथा प्राकृत के करीब २१ हजार श्लोक कठस्थ किये और आगमो का अगोपाग सहित पारायण किया। २२ वर्ष की लघु अवस्था मे ही अपने विचारशील और मननशील व्यक्तित्व के आधार पर तेरापथ के आचार्य चुने गए। प्रगतिशील विचार, प्रकाण्ड पाण्डित्य और अश्रान्त कर्मठता की त्रिवेणी ने उनके जीवन मे एक ऐसा प्रवाह ला दिया है, जो केवल भारतवर्ष के ही लिए नही, किन्तु सम्पूर्ण विश्व के लिए परितृप्ति का कारण बन रहा है।

६

सांस्कृतिक पर्व : मर्यादा-महोत्सव

पर्व अनेक आधारो पर मनाये जाते रहे है, किन्तु 'सविधान' के आधार पर किसी धर्म-सघ या समाज मे कोई पर्व मनाया जाता हो, ऐसा सुनने मे नही आया। तेरापन्थ ही एक ऐसा सगठन है, जो अपने सविधान के आधार पर करीव सौ वर्षों से ऐसा पर्व मनाता आ रहा है। तेरापन्थ का यह महान् सास्कृतिक पर्व 'मर्यादा-महोत्सव' के नाम से सुविख्यात है। तेरापन्थ के सस्थापक आचार्य श्री भिक्षु स्वामी ने धर्म-सघ की एकता और पवित्रता बनाए रखने के लिए कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय मे जो विधि-निषेध की सीमा स्थापित की थी, उसे उन्होंने 'मर्यादा' नाम से पुकारा था। युग की भाषा मे आज हम उसे 'सविधान' कह सकते है। इस सविधान की सम्पन्नता माघ शुक्ला सप्तमी के दिन हुई थी। अत. सघ की वैधानिक व्यवस्था और उसकी कारणभूत मर्यादाओ की पुण्य-स्मृति मे प्रतिवर्ष इसी दिन यह उत्सव मनाया जाता है।

सघीय मर्यादाएं

श्रीमद् भिक्षु स्वामी तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक थे। उन्होंने तत्कालीन धर्म-सघो मे आचार-शैथिल्य के विरुद्ध एक सफल क्रान्ति की थी। नाना विरोधों, विघ्नो और कठिनाइयो का साहसपूर्वक सामना करते हुए, उन्होंने एक ऐसे सघ की स्थापना की, जिसमे समुचित आचार और विचार के आधार पर एक नेतृत्व मे सुसगठित सघीय जीवन की कल्पना आकार ग्रहण कर सके। इसके लिए उन्होने अनेक मर्यादाओ का सूत्रण किया। इन मर्यादाओ के फल-

स्वरूप ही विभिन्न स्थानो तथा विभिन्न जातियो के सहस्रो व्यक्ति स्व-कल्याण और जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर आध्यात्मिक साधना के पथ पर समान स्तर के आधार पर आगे बढ सके। आज भी इस पवित्र परम्परा से आचार्य श्री तुलसी जैसे मनीषी तथा अनेकानेक सन्तजन अणुव्रत-आन्दोलन जैसे कल्याणकारी आन्दोलन के द्वारा जनता को नैतिकता और सदाचारमूलक उद्‌बोधन देते हुए पाद-विहार कर रहे है।

भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही सन्त-परम्पराए चलती आई है तथा भारतीय जनता भी सन्तो के प्रति प्राय. आदर और श्रद्धा की भावना रखती आई है। परन्तु समय-समय पर कुछ ऐसे कारण भी उन परम्पराओ मे पनपते रहे, जिनसे जनता मे उनके प्रति अश्रद्धा की भावना उत्पन्न होने लगी और धीरे-धीरे वे सब परम्पराए अपनी ही कमजोरी के कारण या तो लुप्त हो गई या निस्तेज होकर रह गई। भिक्षु स्वामी ने अपनी दूरदर्शिता के आधार पर इन कमजोरियो को पहचानने का प्रयास किया और नव स्थापित सघ के लिए इस प्रकार से मर्यादाओ का निर्माण किया कि वे कमजोरिया उसमे न पनपने पाए।

उन्होने देखा था कि शिष्य लोभ धर्म-सघो की एक बहुत बडी कमजोरी रही है। इससे सघ मे जहा अयोग्य व्यक्तियों की भर्ती हो जाती है, वहा सघ भी टुकडो मे बटता रहकर एक दिन निस्तेज हो जाता है। उन्होने तेरापन्थ के लिए मर्यादा बनाई कि कोई भी अपना शिष्य नही बना सकेगा। एक आचार्य के ही सारे शिष्य होगे। उन्होने अपनी अन्तिम शिक्षा मे भी अपने उत्तराधिकारी को इस विषय मे विशेष सावधानी बरतते रहने के लिए कहा था कि हर किसी को दीक्षित मत करना, बार-बार परीक्षा कर लेने के बाद ही किसी को दीक्षित करना। इसका परिणाम यह हुआ कि करीब दो सौ वर्ष पूर्व केवल ६ व्यक्तियो से प्रारम्भ होने वाला सगठन आज पौने सात सौ साधुजनो की अतुल शक्ति का सवाहक बन गया है। इसकी सक्रिय उपयोगिता से आज जन-जन इसलिए परिचित है कि इसकी समाज-कल्याणक शक्ति एक पवित्र उद्देश्य पर केन्द्रित होकर लग रही है।

साधु-सघ की दूसरी कमजोरी 'स्थान' को लेकर थी। प्राय. हर साधु-समाज अपने लिए मठो, आश्रमो आदि विभिन्न नामो के आधार पर निर्माण करा कर अपनी चिरस्थायिता का निर्माण कराना चाहता था। अन्तत. वह एक परिग्रही की तरह ही उसमे बन्ध कर रह जाता था। भिक्षु स्वामी की दूर-दर्शिता पूर्ण मर्यादाओ के बल पर तेरापन्थी साधु-समाज अपने प्रारम्भिक काल से ही इस बात पर विशेष सावधान रहा है। सम्भवत प्रचलित साधु-सघो मे यह अपने प्रकार का एक ही उदाहरण होगा कि लाखो अनुयायियो द्वारा पूजित होने पर भी इस साधु-सघ के पास अपना कोई स्थान नही है। अन्य सघ जहा अपनी सम्पत्ति की मात्रा के आधार पर ही अपनी प्रगति का अकन करते है, वहा यह सघ स्थान-विरहित अपनी निर्बन्ध स्थिति को ही प्रगति के लिए आवश्यक मानता है।

भिक्षु स्वामी ने जहा पूर्व प्रचलित कमजोरियो के विरुद्ध मर्यादाओ का निर्माण किया था, वहा नये सर्जन और नई परम्पराओ की स्थापना के लिए भी अनेक मर्यादाए बनाई थी। उन्ही का विकास आज तेरापन्थ के श्रमण-वर्ग के लिए अपूर्व शक्ति का स्रोत बन रहा है। इन मर्यादाओ के द्वारा सघ मे सम-आचार और सम-विचार की स्थापना तो हुई ही, किन्तु साथ ही अनुशासनप्रियता भी स्थापित हुई। अन्यत्र जहा शारीरिक दण्ड-विधान के आधार पर भी अनुशासनहीनता मिट नही पा रही है, वहा केवल आत्मा-नुशासन के द्वारा इतने बडे सघ का अनुशासित होना तथा अपनी मर्यादाओ और परम्पराओ का समुचित ढग से स्वय ही पालन करना अवश्य ही मर्यादा-निर्माता की अपूर्व सफलता की उद्घोषणा करता है। स्वामीजी की इन मर्यादाओ ने सघ को सयम-साधना और अनुशासन-भावना से अनुप्राणित किया है। अत उनको बनाए रखने तथा सघ की सुव्यवस्था और प्रगति के लिए इन मर्यादाओ पर चलने की निष्ठा को नया उत्साह प्रदान करने के उद्देश्य से उक्त 'मर्यादा-महोत्सव' की पुनीत परम्परा स्थापित हुई है।

महोत्सव के अवसर पर

'मर्यादा-महोत्सव' भारतवर्ष की आध्यात्मिक और सास्कृतिक भावनाओ

का एक मूर्त प्रतीक कहा जाए तो अत्युक्ति नही होगी। इस अवसर पर दूर-दूर स्थानो मे विहार करने वाले साधु-वर्ग का एक ही गन्तव्य लक्ष्य बन जाता है। महोत्सव का स्थान प्रतिवर्ष आचार्य श्री तुलसी उद्घोषित कर देते है। चातुर्मास समाप्ति पर प्राय पाच-सौ छ-सौ साधुजनो के पैर उसी दिशा मे बढने लगते है। शीत-ऋतु, मार्ग का श्रम, स्थान की कठिनाइया और सयम-साधना के उपयोगी उपकरणो का कन्धो पर रखा हुआ भार, उनकी इस यात्रा मे कोई बाधा उपस्थित नही कर सकते। गुरु-दर्शन और सब्रह्मचारियो का मिलन, उनकी सारी कठिनाइयो को धो देता है। यह मिलन-दृश्य वस्तुत पारस्परिक भक्ति, विनय और सौहार्द आदि मूलभूत उदात्त भावनाओ का उत्प्रेरक होता है।

इस अवसर पर एकत्रित हुए सैकडो साधुओ का यह मिलन परस्पर प्रेरणाओ का केन्द्र बन जाता है। तेरापन्थ की मर्यादाओ का पूरा महत्त्व इस अवसर पर स्पष्ट रूप से जनता के सामने आ जाता है। इतने व्यक्तियो का प्रत्येक कार्य स्वावलम्बन के आधार पर प्रतिदिन सुव्यवस्थित रूप से सचालित होता है। इस सामूहिक व्यवस्था मे श्रम सबके बटवारे मे आता है। कुछ कार्य क्रमश बारी के रूप मे विभक्त होते है और कुछ प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति के लिए पृथक्-पृथक् रूप मे। अपनी बारी तथा भाग का काम करने मे किसी को दुविधा भी नही होती और किसी एक पर भार भी नही पडता। रोगी आदि कुछ अपवादो को छोडकर हर व्यक्ति के लिए यह श्रम-विभाग अनिवार्य होता है। धोबी, दर्जी और नाई आदि के ही नही, किन्तु अस्वस्थ साधुओ का हरिजनोचित कार्य भी साधु ही सेवा-भाव से करते है। ज्ञान और श्रम की समान प्रतिष्ठा का यह स्वरूप आज साधु-सघो के लिए ही नही, अपितु भारतवर्ष की सारी जनता के लिए भी एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।

उन्ही दिनो मे विद्यार्थी-साधुओ की परीक्षाए भी हुआ करती है। सघ की अपनी पाठ्य-व्यवस्था है। आगम, कला, साहित्य तथा दर्शन आदि विषयो की व्यवस्थित रूप से सप्तवर्षीय शिक्षा दी जाती है। अध्यापन-कार्य तथा परीक्षा-

कार्य साधु-वर्ग द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। पूर्व निर्धारित क्रम से परीक्षा मे उत्तीर्ण तथा अनुत्तीर्ण साधु-साध्वियो के नामो की घोषणा आचार्य श्री तुलसी के सम्मुख की जाती है। तदुपरान्त फिर से आगे का अध्ययन चालू हो जाता है।

इस अवसर पर अनेक विचार-गोष्ठिया, आगम-चर्चाए, साहित्य-गोष्ठिया आदि विभिन्न कार्यक्रम भी रखे जाते हैं। कुछ निर्धारितो दिन तथा यथा-समय सूचित अवसरो पर आचार्य श्री तुलसी की शिक्षाए भी होती है। इस तरह यह शीतकालीन अवसर तेरापन्थ सघ के लिए आध्यात्मिक, सास्कृतिक और साहित्यिक वलार्जन करने का अच्छा अवसर वन जाता है।

माघ शुक्ला सप्तमी

आचार्य श्री तुलसी इस युग के एक महान् मनद्रष्टा सन्त हैं। वे तेरापन्थ के एक आचार्य होने के साथ-साथ अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन करने के कारण मानव-मात्र के लिए श्रद्धा-भाजन है। उन्ही के नेतृत्व मे माघ शुक्ला सप्तमी को यह महोत्सव सम्पन्न होता है। आचार्यप्रवर श्री भिक्षु स्वामी द्वारा लगभग २०० वर्ष पूर्व लिखित मर्यादा-पत्र निकालकर मर्यादाओ का वाचन करते है, साधु-साध्वी वृन्द उन लिखित मर्यादाओ के अनुसार चलने की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते है और उनमे अपनी निष्ठा व्यक्त करते है। इस अवसर पर अन्य भाषणो, कविताओ आदि के द्वारा वातावरण मे एक नवीन उत्साह भर जाता है। तदनन्तर आचार्य श्री तुलसी साधु-साध्वियो के सिंघाडो (वर्गो) को आगामी विहार के लिए पृथक्-पृथक् प्रान्तो तथा गावो के लिए निर्देश देते है। सप्तमी के वाद उन ग्रुपो की पुन अपने निर्दिष्ट स्थानो की यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। वे जिस उत्साह से आते है, उसी उत्साह से आगामी वर्ष के कार्य को सम्पन्न करने चले जाते है। सन्तजनो के इस सामूहिक जीवन को देख कर यह वैदिक सूक्ति स्मरण हो आती है—"सगच्छध्व सवदध्व सवोमनासि जानताम्" अर्थात् तुम सवकी एक राह, एक वात और एक चिन्तन हो।

१०

लाडनूं स्थिरवास और उसके संस्थापक तथा वर्तमान संचालक

लाडनूं स्थिरवास का प्रारम्भ जयाचार्य ने किया था। यह उनकी ग्लान, अस्वस्थ और वृद्ध साध्वियों की समाधि-सुरक्षा के लिए बहुत ही उत्तम एवं उपयुक्त सूझ थी। वे गहरे चिन्तक, उद्भट विद्वान् और महत्त्वशील व्यक्ति थे। उनका जीवन अनेक प्रकार की ऐसी घटनाओं से भरा था, जिनका स्मरण करने से मन आश्चर्य से भर जाता है। उनके कदम कभी नहीं रुके। हर समस्या का उनके पास समाधान था। हर वात को वे इस तरीके से सुलझाते थे कि वह जनता के लिए पथ-प्रदर्शक वन जाए और सदा का हल निकल आए। उन्होंने संघ के सर्वांगीण विकास पर ध्यान दिया था। एक भी पहलू ऐसा नहीं होगा, जिसमें उन्होंने समयानुकूल कुछ काट-छाट न की हो और अपनी तरफ से कुछ उपयुक्त न जोडा हो। सवसे पहले उन्होंने साधना पर दृष्टिपात किया। साधना ही साधुओं का जीवन है। उसकी रक्षा पहले पहल होनी चाहिए। उसमें थोडी-सी भी स्खलना चाहे फिर वह किसी मनस्वी साधु के द्वारा ही क्यों न की गई हो, सह्य नहीं हो सकती।

उन्होंने गहरे चिन्तन के वाद पाया कि साधना में चित्त-समाधि प्रमुख साधन है। वह वनी रह सके, ऐसा आयास आवश्यक है। यों तो समाधि सभी समय में अनिवार्य है, पर वृद्धावस्था और रोग के काल में तो वह और भी जरूरी है। उसी चिन्तन का परिणाम लाडनूं का यह स्थिरवास और यहां की शुश्रूषा-पद्धति है।

मनुष्य को अपने जीवन-काल मे मुख्यत तीन अवस्थाए प्राप्त होती है। उनमें से पहली बाल-अवस्था होती है। इस अवस्था मे हर एक बच्चा सहज रूप से प्यारा होता है। उसके प्रत्येक आचरण लुभावने और आकर्षक होते है। उस का सरल व्यवहार, निश्छल वाणी और मृदुल हृदय स्वय व्यक्ति को अपनी ओर खीच लेते है। इन विशेषताओं के कारण वह अनायास ही अपनी सब आवश्कताए पूरी करवा लेता है। दूसरी युवावस्था होती है। युवक तो समर्थ होता ही है। अत साधारणतया उसे किसी की सेवा लेने की अपेक्षा नही रहती। वह तो सेवा देने की क्षमता रखता है। किसी अन्य के सहारे जीना बालक और वृद्ध को तो सह्य हो सकता है, किन्तु किसी युवक के लिए यह बात असह्य ही होती है। सहायता लेने की अपेक्षा सहायता देना ही उसके गौरव के अनुकूल होता है। अन्तत. बात बूढो पर ही आकर ठहरती है, जो कि मनुष्य की तीसरी अवस्था मे होते है। ये स्वभाव से कुछ चिटचिडे भी हो जाते है। अपना शरीर भी इनको साथ नही देता। चारो तरफ मक्खिया भनभना-हट करती रहती है। पास मे बैठा व्यक्ति घृणापूर्वक सरक जाता है। न जाने प्रकृति ने मनुष्य के साथ यह क्रूर उपहास क्यो किया है ? जब फल पकने पर आते है, तब बडे मीठे हो जाते है, परन्तु यह अभागा मनुष्य जब पकने पर आता है तो खारा हो जाता है। प्रकृति के इस पक्षपात ने मनुष्य के जीवन मे ऐसा विष घोल दिया है, जो कि उसके लिए एक बडा अभिशाप बन गया है।

ऐसी स्थिति मे मनुष्य के मन को परोटने और समाधिपूर्वक सयम निभा सकने की व्यवस्था बहुत अनिवार्य हो जाती है। जयाचार्य ने इसी समस्या का स्थिरवास के रूप मे रचनात्मक समाधान दिया था और बूढो तथा अशक्तो का जीवन सभाला था।

व्यक्ति जब समर्थ होता है, तब सारे परिवार का भरण-पोषण करता है। अनेक तरह की सेवाओ के द्वारा उनकी आवश्यकताओ को पूरी करता है। अनेक कष्टो को वह परिवार की सुरक्षा के लिए अपने ऊपर ले लेता है। बहुत ही चाव से और कर्तव्य की भावना से वह सब काम सम्पादित करता है। इतने पर भी उसे वृद्धावस्था मे असुरक्षा का भय सताता रहता है। वार्धक्य के

[illegible] के [illegible] स्थान में [illegible] (साधिका) के [illegible] हैं। उनका की [illegible] कम [illegible] ही हो सकते हैं [illegible] उन श्रावकों के बच्चे हैं और [illegible] के स्थिरवास की सेवा-[illegible] व्यवस्था को देखा है और साधु-साध्वियों के सम्पर्क में [illegible] और आत्मिक जीवन को देखने का अवसर उपलब्ध किया है। मैं समझता हूँ उन्होंने देखा अवश्य है, परन्तु आँखें खोल कर नही। केवल रूढि के रूप मे ही देखा है। अन्यथा क्या कारण हो सकता था कि वे ऐसी छोटी बातों मे भी सुधार नही कर पाए ? किसी भी वस्तु को देखने के लिए ग्रहण-दृष्टि की आवश्यकता होती है, अन्यथा वह अनदेखी ही रह जाती है। लोग बाजार मे जाते है। एक के बाद एक को लाघते हुए पचासो दुकानें लाघ जाते है। उनसे कोई पूछे आपने पीछे क्या देखा तो वे क्या बताए ? उनका तो उन वस्तुओं के प्रति ध्यान ही नही था। क्योंकि उनकी ग्रहण दृष्टि नही थी। यही बात कुछ श्रावकों के विषय मे कही जा सकती है कि वे ग्रहण-दृष्टि नही रखते, जो कि उन्हे रखनी चाहिए।

आज इस स्थिरवास की शताब्दी को सेवा-स्मृति के रूप मे मनाया जाना तेरापथ सघ की नीव को और अधिक गहरा करने का कार्य है। इससे सघ के वृद्ध तथा अशक्त व्यक्तियों को सुरक्षा की गारटी मिलती है। सौ वर्ष पूर्व यह कार्य जयाचार्य द्वारा चालू किया गया था। आज वर्तमान आचार्य श्री तुलसीगणी उसका पुनर्नवीकरण करने के लिए विशेष निरीक्षण कर रहे है।

नये कार्य करने तथा तेरापथ शासन को नया मोड देने का अवसर जयाचार्य को ही उपलब्ध हुआ था। क्योंकि पहले तीन आचार्यों को तो अपनी शक्ति सघर्ष मे ही खपानी पडी थी। उनका अधिक समय निरन्तर चलने वाले विरोध मे लग जाता था। अत वे प्रमुखता से अन्य बातों पर ध्यान नही दे सके थे। किन्तु जयाचार्य के शासन मे विरोध कुछ मन्द पड गया था। वह

थक चुका था। अत ठहर कर कुछ सास लेना चाहता था। विरोधी उस समय मे इतने हाप चुके थे कि उनके लिए रुकना आवश्यक हो गया था। जयाचार्य ने इसका लाभ उठाया और अपनी शक्ति निर्माण मे लगाई।

उन्होंने तीन महोत्सव स्थापित किए—पाटोत्सव, चरमोत्सव और मर्यादा-महोत्सव। इनसे गण की एकता को बडा बल मिला। सघ के हितार्थ उन्होंने और भी अनेक नई परम्पराए डाली। हर उपयोगी नवीनता का प्राय पहले-पहल विरोध होना ही है, उसी क्रम से जयाचार्य की स्थापनाओ का भी विरोध हुआ। अपने आपको विचारक समझने वाले अनेक व्यक्ति उसमे उलझे, तर्क उठी पर उन्होने जो आलोक दिया था, उसको सशक्त आख वालो ने खुली आखो से देखा था। जिनकी आखें कमजोर थी, वे चुधिया गए। आज जैसे कहा जाता है कि कालूगणी तक कडाई थी, पर वर्तमान आचार्य श्री तुलसी-गणी ने ढिलाई कर दी है। उस समय मे भी यही आवाज उठी थी कि ऋषिराय महाराज तक सम्प्रदाय ठीक चलता था, पर अब जयाचार्य ने शिथिलता कर दी है। बाह्य और आन्तरिक रूप से उनका तीव्रतम विरोध हुआ, पर वे घबराये नही। विरोध का डट कर सामना किया। आज उन्ही परम्पराओ को एकदम उचित और उपयुक्त स्वीकार किया जा रहा है।

वर्तमान आचार्य श्री तुलसीगणी भी आज सघ को नया मोड दे रहे है, जो कि अत्यन्त उपयोगी होने के साथ-साथ सघ के जीवन के लिए एक समयानुकूल खुराक के समान कहा जा सकता है। परन्तु जो व्यक्ति इसे हजम नही कर सकते, पचा नही सकते, वे उसका विरोध करते है। वस्तुत मे विरोधी व्यक्ति अपनी हाजमे की कमजोरी को ढकने के लिए खुराक की ही बुराई बताना चाहते है। इसके अतिरिक्त उनके पास और कोई चारा भी तो नही रह गया है। परन्तु आचार्य श्री तुलसी न तो इससे कभी घबराये है और न ही उन्हे कभी घबराने की आवश्यकता है। आने वाली पीढी इन कार्यों का मूल्य अवश्य आकेगी।

जयाचार्य और आचार्य श्री तुलसी का और भी अनेक बातो मे साम्य रहा है। जयाचार्य ने अपने शासनकाल मे अनेक नई परम्पराए स्थापित की थीं,

उसी प्रकार आचार्य श्री तुलसी भी कर रहे हैं। जयाचार्य ने संगठन का बीजा-रोपण किया था, आचार्य श्री तुलसी उसको विशाल रूप बना रहे हैं। उन्होंने गहन आगम-मन्थन किया था, वर्तमान में भी वह कार्य बड़े पैमाने पर चल रहा है। इस प्रकार कार्यों की दृष्टि से तो दोनों आचार्यों में अद्भुत समानता रही ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त शरीर की दृष्टि से भी दोनों में समता रही है। जयाचार्य शरीर के कुछ ठिगने थे तो आचार्य श्री तुलसी भी कद के लम्बे नहीं हैं। अन्य सब बातों को इस समय एक किनारे रखकर केवल यहां के स्थिरवास को ही देखें तो यहां भी वही समानता दिखाई देती है। एक आचार्य को इसकी स्थापना का श्रेय प्राप्त है तो दूसरे को इसका शताब्दी उत्सव मनाने का। दोनों ही आचार्यों ने इस सेवा-कार्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा है और इस विषय में समान रूप से जागरूक रहे हैं। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि वर्तमान आचार्य जयाचार्य के ही दूसरे रूप हैं, जो कि उनके ही कार्य का आज सौ वर्षों के बाद पुनः उन्हीं की तरह पूरे वेग के साथ नवीकरण कर रहे हैं। इस प्रकार तेरापन्थ सघ के चतुर्मुखी विकास के लिए आचार्यों द्वारा समय-समय पर सेवा-भावना पर जो ऐसे प्रोत्साहन दिये जाते रहे हैं, हम सब उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के अपने कर्तव्य को अच्छी तरह से समझ कर सघ-समृद्धि के इस महायज्ञ में अपना भाग अर्पित करने का श्रेय करेंगे—ऐसी आशा है।

: ११ :

पोतियाबन्ध सम्प्रदाय

आचार्य श्री भिक्षु के समय में जैन श्वेताम्बर सम्प्रदायों में गच्छवासी सम्प्रदाय और स्थानकवासी सम्प्रदाय प्रसिद्ध सम्प्रदाय थे। गच्छवासी सम्प्रदायों में यति वर्ग और संविग्न साधु पाए जाते हैं। वे दोनों ही मूर्ति-पूजा को वैध मानने वाले रहे हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय उस समय 'ढूंढिया' अथवा 'बाईस टोला' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध था, परन्तु उन प्रसिद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त कुछ अन्य अल्प प्रसिद्ध सम्प्रदाय भी उस समय मौजूद थे—ऐसा आचार्य श्री भिक्षु की कृतियों तथा उनके जीवन-चरित्र से पता चलता है। उन अनेक अप्रसिद्ध सम्प्रदायों में से एक का नाम आचार्य श्री भिक्षु ने अपनी कृतियों में 'पोतियाबन्ध' दिया है।

इस सम्प्रदाय के व्यक्ति इस पंचम काल में साधुत्व का होना असम्भव मानते थे और अपने आपको 'श्रावक' कहते थे। उस समय में प्रचलित साधु-वेष से अपना वेष पृथक् करने के लिए सम्भवतः वे अपने सिर पर सफेद कपड़ा बांधा करते थे, जिसे राजस्थानी भाषा में 'पोतिया' कहते हैं। सम्भव है—'पोतिया' सिर पर बांधने के कारण ही इनका नाम जनता में 'पोतियाबन्ध' प्रचलित हो गया हो।

यह सम्प्रदाय कब से प्रचलित हुआ—इसका विवरण आचार्य श्री भिक्षु के किसी ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता। ये किसी संगठित सम्प्रदाय के रूप में किसी आचार्य आदि की अधीनता में रहते थे अथवा व्यक्तिशः ही प्रचार करते

थे, इसका भी कोई विवरण देखने में नहीं आया, परन्तु उस समय इनका प्रचार काफी व्यापक था और लोग इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे—ऐसा ज्ञात होता है। [illegible] का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है, जिसे 'एकल पातरिया श्रावक' कहा जाता था। वे भी अपने आपको श्रावक ही मानते थे। इनके विषय में जो ज्ञात हो सका है, उसका सार यह है—

"विक्रम सं० १५६२ में 'तीन थुई' मानने वाला 'कडुआमत' निकला। परन्तु उसमें चार पाटों के बाद से ही शिथिलता आ गई। उस समय उनमें जो आत्मार्थी साधु थे, उन्होंने सोचा कि लिए हुए व्रतों का बार-बार भग करने से तो अच्छा है कि श्रावक के व्रत पालते हुए वीतराग-धर्म का प्रचार करते रहे। साधुता नही होते हुए भी जो साधुता बताई जाती है, कम से कम उस भाषा-दोष से तो छुटकारा सम्भव है। यही सोचकर कुछ साधु उस गच्छ से अलग हो गए और श्रावक व्रत धारण कर धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे। उनका वेष साधुओ जैसा ही था, पर वे रजोहरण के डण्डे पर कपडा नही रखते थे। भिक्षा के लिए एक पात्र रखते थे, इसीलिए वे 'एकल पातरिया' नाम से प्रसिद्ध हो गए। इनके इस समूह मे गुजराती लोकागच्छ के कुछ साधु भी आ मिले थे। इन्होंने अपने विचार-प्रवाह को फैलाने का काफी प्रयत्न किया था और वे इसमे सफल भी हुए थे। एक समय इनके गच्छ मे ८०० व्यक्ति तक विद्यमान थे, ऐसा कहा जाता है। जामनगर मे अब भी 'एकल पातरिया' श्रावको का एक भण्डार विद्यमान[1] है।" सम्भव है यही परम्परा कालान्तर से राजस्थान मे फैली हो और वेष आदि मे भेद हो जाने पर 'पोतिया बन्ध' नाम से प्रख्यात हुई हो। यह केवल एक अनुमान ही है फिर भी श्रावक रह कर उपदेश देने की विचार-धारा दोनो के एकत्व की कडी बन सकती है। 'एकल पातरिया' श्रावको की मान्यता आदि के विषय की जानकारी अपेक्षणीय है। वह जब तक प्राप्त नही हो जाती तब तक इन दोनो के एकत्व

---

१ जैनधर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली पृ० २१५

या भिन्नत्व के विषय मे अधिक कुछ नही कहा जा सकता ।

आचार्य श्री भिक्षु ने अपने ग्रन्थो मे 'पोतियाबध' की मान्यता का खण्डन किया है, उसके आधार पर उनका तथा उनकी मान्यताओं का जो स्वरूप फलित होता है, उसका सक्षेप मे यह साराश कहा जा सकता है—

ये अपने आपको श्रावक तथा श्राविका ही कहते थे । वर्तमान काल मे साधुत्व का अभाव मानने के कारण वे स्वय श्रावक-व्रत धारण करते थे । परन्तु इनकी मान्यता थी कि वर्तमान मे मन का योग स्थिर नही रह सकता, अत कोई भी त्याग तीन करण व तीन योग से नही हो सकता । श्रावक के बारह व्रतो मे से ऊपर के पाच व्रत वे स्वीकार ही नही करते थे । अवशिष्ट सात व्रतो मे भी मन योग का त्याग नही करते थे । इनकी मान्यता मे आने से पहले यदि किसी को सामायिक, पौषध आदि का नियम होता तो ये उसका भग करवा देते थे । इनके सब प्रत्याख्यान मनायोग के अतिरिक्त ही होते थे ।

इनकी यह भी एक विचित्र बात थी कि समस्त जैन सम्प्रदायो के द्वारा मान्य 'णमुक्कार' महामन्त्र को ये अमान्य ठहराते थे । इनमे उनका तर्क था कि इसके प्रथम पद मे अरिहन्तो को और द्वितीय पद मे सिद्धो को नमस्कार किया गया है, यह वस्तुत. सिद्धो की आशातना है । पचम पद मे सर्व साधुओ को नमस्कार किया गया है, वह भी नियमत ठीक नही है, क्योकि बड़े साधु अपने से पर्याय-कनिष्ठ साधु को नमस्कार करें, यह शास्त्र-सम्मत नही हो सकता । इसी आधार पर उनकी प्ररूपणा थी कि 'णमुक्कार' का जाप करना धर्म-हेतु नही होकर पाप बध का कारण ही बनता है ।

'आवश्यक सूत्र' के विषय मे इनका कथन था कि यह सूत्र मूल रूप से विद्यमान नही रहा है । प्रतिक्रमण को 'आवश्यक सूत्र' मानना उनके मत से अनुचित था, क्योकि प्रतिक्रमण की अनेक पाटिया मूल की नही है, किन्तु पीछे से प्रक्षिप्त है । इरियावही, तस्स उत्तरी, लोगस्स, नमोत्थुण और खमासमणा आदि पाटिया उन्हे मान्य नही थी ।

लिखना तथा साहित्य रचना करना इनकी दृष्टि मे पाप का कार्य था । अत. आगमो की प्रतिलिपि करने तथा ढाल, स्तवन आदि की रचना करने

के वे बिल्कुल विरुद्ध थे। साहित्य-रचना या लेखन से विरक्त होने का कारण यह था कि वे अपनी निश्राय में पुस्तक[1] या पत्र आदि को रखना भी पाप समझते थे। इनकी मान्यतानुसार साधु को १४ उवगरणों से अधिक रखना नही कल्पता। लिखने की सामग्री, पुस्तक तथा पत्र आदि रखने से उवगरणों की वृद्धि हो जाती है। जान पड़ता है कि उस समय इन लोगों ने १४ उवगरणों की बात को लेकर स्थानीय जनता मे काफी ऊहापोह भी पैदा कर दिया था।

उपर्युक्त मान्यता के अतिरिक्त इनके आचार सम्बन्धी अनेक बातें भी आचार्य श्री भिक्षु के ग्रन्थों मे उल्लिखित है, वे सक्षेपत इस प्रकार है —

ये अपने आप मे तथा अन्य किसी मे इस पचम काल मे साधुता नही मानते थे, अत स्वय श्रावक ही कहलाते थे। तथापि वे गृहस्थ की तरह भी नही रहते थे। ऐसा लगता है—वे साधु और गृहस्थ के बीच की स्थिति स्वीकार किए हुए अपनी पद्धति से धर्माराधन करते थे। ये आहार-पानी गोचरी के द्वारा गृहस्थों के घर से ही लाते थे। यद्यपि इनकी प्ररूपणा, वस्त्र, पात्र आदि सभी प्रकार की वस्तु शुद्ध लेने की ही थी, तथापि मौका देखकर अशुद्ध आहार आदि भी ग्रहण कर लेते थे। कोई उन्हे मौके पर टोकता तो कहते थे कि हम साधु थोड़े ही है, हम तो गृहस्थ है।

इनके लिए स्थानक बनाए जाते थे और ये उनमे रहा करते थे। गृहस्थ के पास से कपड़ा आदि भी धुला लेते थे और इस कार्य को विनयमूल धर्म के रूप मे गिनते थे। बैलगाड़ी, घोड़े और बैल आदि की सवारी पर भी कोई बिठाता तो समय देखकर बैठ जाते थे और बिठाने वाले को धर्म हुआ मानते थे।

इनकी मान्यता के अनुयायी गृहस्थ इन्हे अपना गुरु समझते थे और 'तिक्खुत्तो' के पाठ से इन्हे वन्दन करते थे। ये अपने प्रकार से दीक्षा देकर शिष्य-शिष्याएं भी करते थे। चौमासे आदि के समय इनके पास गांव, पर गांव से 'बीदड़ी' आया करती थी। 'बीदड़ी' का अर्थ भेंट या उपहार होता है।

---

१ आचार्य श्री भिक्षुकृत उवगरणा की ढाल

इसमे खाद्य पदार्थ तथा कपडा आदि आया करता था और ये उसे स्वीकार भी करते थे ।

ये श्वेताम्बर आगमो को ही मानते थे और 'ढू ढिया' सम्प्रदाय से ही पृथक् हुए थे । पता चलता है कि यह सम्प्रदाय आचार्य श्री भिक्षु के समय तक काफी शिथिल पड़ चुका था और क्रमश नाशोन्मुख ही होता जा रहा था । आचार्य श्री भिक्षु ने इनकी मान्यताओं का खण्डन अवश्य किया है, किन्तु उसके बाद तेरापन्थ के किसी ग्रन्थ मे उनका नामोल्लेख भी नही मिलता । आचार्य श्री भिक्षु ने तो एक 'पोतियाबन्ध'[1] को अपने शासन मे दीक्षित भी किया था । ऐसा 'भिक्षु जस रसायण' मे जयाचार्य ने लिखा है । इसके अतिरिक्त 'गू दोच' मे जब आचार्य श्री भिक्षु की आचार्य रुघनाथजी के साथ चर्चा हुई थी, उस समय पोतियाबध सम्प्रदाय की आर्याओ[2] की उपस्थिति का उल्लेख भी है ।

उपर्युक्त विवरण प्राय 'पोतियाबन्ध की चोपाई' जो कि स्वामीजी की कृति है, के आधार पर लिखा गया है। कुछ बाते 'उवगरणो की ढाल', 'भिक्षु जस रसायण' तथा 'भिक्षुदृष्टान्त' से भी ली गई है । इस सम्प्रदाय की और अधिक जानकारी के लिए तत्कालीन स्थानकवासी साधुओ की कृतियो तथा चर्चा-प्रसगो आदि मे प्रसगोपात कोई उल्लेख हुआ हो तो वह अवश्य गवेषणीय है । उनके उत्पत्ति काल, प्रवर्तक पुरुष तथा मान्यता आदि का विवरण देने वाला स्वय उनका ही कोई ग्रन्थ उपलब्ध हो सके, ऐसा तो सम्भव प्रतीत नही होता, क्योकि आचार्य श्री भिक्षु के कथनानुसार ये ग्रन्थ प्रणयन के विरोधी थे ।

---

१ लोहावट में सुखरामजी स्वामी, स्वामीजी के पास दीक्षित होने से पहले 'पोतियाबन्ध' थे ।—भिक्षु जस रसायण, ढा० ४५ गा० १६

२ भिक्षु दृष्टान्त

: १२ :

इतिहास के आलोक में

देश, जाति और समाज के लिए इतिहास की नितान्त अपेक्षा है। वह देश, वह जाति और वह समाज—सघ, जिसका इतिहास नही है, अपने अस्तित्व को अधिक दिन टिकाए नही रख सकता। इसका कारण है, इतिहास उनके अतीत का दर्पण है। उसमे उनकी अच्छाइया और बुराइया दोनो प्रतिबिम्बित रहती है। अच्छाइयो को देख कर वे अपने मन मे साहस भरते है और बुराइयो—गलतियो को देखकर आगे उसे नही दुहराने का ध्यान रखते है। अत इतिहास उनका पोषक और शोधक दोनो है। प्रत्येक समाज—सघ आदि की अपनी-अपनी परिस्थितिया होती है। वह उनसे अलग भाग कर नही चल सकता। उसके लिए ससार की अन्य परिस्थितियो की अपेक्षा अपनी निजी परिस्थिति अत्यन्त सापेक्ष है। उन परिस्थितियो का निर्माण क्यो और कैसे हुआ? यह ही इतिहास का प्रतिपाद्य है। अत. अपनी परिस्थितियो मे कुशल रहने, उनमे अच्छी प्रकार से पच जाने के लिए इतिहास अत्यन्त आवश्यक है और इसी लए कई भारतीय दार्शनिको ने तो 'ऐतिह्य' नाम के प्रमाण की भी कल्पना की है। वैदिको ने तो इतिहास को पाचवा वेद ही मान लिया है।

इसमे एक खतरा भी है और वह यह कि कई बार ऐतिहासिक अनुमानो मे बडी भारी भूल भी रह जाती है। पर यह दोष उन इतिहासज्ञो का नही है, यह दोष उन उन लोगो का है, जिन्होने अपने इतिहास को छिपा कर रखा है।

जैन इतिहास

जैन धर्म का इतिहास भारतवर्ष का इतिहास है। क्योकि जैन लोग भारत

में जन्मे, भारत मे फले-फूले और उन्होंने भारतीय सस्कृति को उन्नति के शिखर पर चढाया। अत जैनो के इतिहास के बिना भारतवर्ष का इतिहास अधूरा है, यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही है। जब तक जैन धर्म के इतिहास की खोज पूरी नही हो जाती तब तक भारतवर्ष के इतिहास के सही तथ्य हमारे सामने नही आ सकते।

भारत के इतिहास के बारे मे एक बात यह कही जाती है कि वह प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि पुराण काल मे घटी घटनाओ का उल्लेख जो पुराणो मे किया गया है, वह अतिरजित है। उसमे ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा अपने अपने समाज की गुरुता—गौरव और काव्य का रग अधिक है। अत वह प्रामाणिक नही हो सकता। क्योंकि हमारे सामने इतिहास के निर्धारण के चार आधार है। पहला आधार है—अमुक समय मे अमुक काम हुआ, इसका उस काल के सिक्को, शिलालेखो और प्रमाण-पत्रो मे कोई उल्लेख हो। दूसरा आधार है—ध्वसावशेष। तीसरा आधार है—उस काल के ग्रन्थ और चौथा आधार है—उस काल से सलग्न कुछ बाद के समय के ग्रन्थों मे प्राग्-घटित घटनाओ की पुष्टि हो।

इन चार आधारो के बिना कोई भी तथ्य प्रामाणिक नही माना जा सकता। पर इस विषय पर हमे गहराई से सोचना है। पुराण काल की उक्तियों मे जो बातें अप्रामाणिक मानी जाती है, उनके प्राय तीन कारण बताए जाते है। उनमे पहला कारण है—पुराणो मे मनुष्य की आयुष्य के विषय मे जो कल्पनाए की गई है, वे कुछ असगत-सी लगती है। दूसरा कारण है—उनके शरीर की अवगाहन भी कुछ सदिग्ध-सी है और इसी प्रकार तीसरा कारण है—सृष्टि की काल-गणना को पुराण जहा तक पहुचाते है, वह असभाव्य है। पर जरा सोचने पर हमे इनमे कोई असंगति मालूम नही पड़ेगी। क्योंकि आज के वैज्ञानिक युग ने स्वय ही इन कारणो को साफ कर दिया है। नवीन अन्वेषणो से पुराने अस्थि-पजरो के जो ढाचे मिले है, उनमे कई-कई ढाचे तो ५०-६० फुट तक के है। अत शरीर की अवगाहना के बारे मे सन्देह करना, यह स्वय ही निराधार ठहर जाता है और वैज्ञानिकों ने स्वयं

इतिहास की बहुत-सी निधिया प्रकाश मे नही आई है। अगर वे सब प्रकाश मे आ जाएगी तो पता लगेगा कि यहा का इतिहास कितना पुराना है और उसमे भी जैन-साहित्य का अध्ययन तो बहुत ही कम हुआ है। इसीलिए इतिहास के आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक नही बता सकते कि जैन-इतिहास कब से शुरू हुआ है? पर जो कुछ भी खोज हुई है उससे बहुत-सी गलत धारणाओ का निराकरण होता है। जिस प्रकार पहले विद्वानो का यह मत था कि भगवान् महावीर का निर्वाण बुद्ध से पहले ही हो गया था। पर मुनि कल्याणविजयजी ने इस तथ्य को गलत माना है। उनका तर्क है कि बौद्ध पिटको मे भगवान् के निर्वाण की चर्चा आई है, अत भगवान् महावीर बुद्ध से पहले ही काल-धर्म को प्राप्त हो गए थे, पर वास्तव मे इस तर्क की भूमिका यह नही है। मुनि कल्याणविजयजी ने इस का प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि श्रेणिक पुत्र अजातशत्रु का वर्णन बौद्ध और जैन दोनो ही ग्रन्थो मे आया है। अजातशत्रु के प्रसग को लेकर बुद्ध के जीवन के साथ जोडते हुए वहा बताया गया है कि उसके (अजातशत्रु) राज्याभिषेक के ८ वर्षो के बाद भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ था और दीर्घनिकाय मे यह भी बताया है कि जब अजातशत्रु का राज्याभिषेक हुआ, तब भगवान् की आयु अधेड थी। इससे पता चलता है कि भगवान् महावीर बुद्ध से उम्र मे छोटे थे और उन्होने बुद्ध के निर्वाण के करीब साढे चौदह वर्ष बाद निर्वाण प्राप्त किया था।

बौद्ध ग्रन्थ मे भगवान् महावीर के निर्वाण की और उनके शिष्यो मे आपस मे कलह की चर्चा है। वह तो भगवान् पर गोशालक द्वारा छोडी हुई तेजो लेश्या के सम्बन्ध को लेकर गलत रूप से फैली हुई अफवाह का परिणाम है।

इस प्रकार और भी बहुत-सी घटनाए गलत रूप से प्रचलित है और बहुत-सी अभी तक अन्धेरे मे पडी हुई है। जब तक जैन-साहित्य का पूरा अन्वेषण-पूर्वक अध्ययन नही होगा, तब तक वह कमी पूरी होनी मुश्किल है और इसी-लिए भारतीय इतिहास भी उसके बिना अधूरा ही रहेगा।

: १३ :

आद्य प्रेरक

मध्याह्न की चिलचिलाती धूप जनहीन मरुस्थल के मर्माङ्ग पर चिकोटी काटती है। वसन्त के उपेक्षित उपनिवेश पर उसके प्रतिपक्षी निदाघ महाराज की क्रूर दृष्टि रौरव का दृश्य उपस्थित कर वसन्त को ही भला कहने को बाध्य कर रही है। शुष्क नदी की उत्तप्त धूलि शोषित जनता के हृदय की उपेक्षित आग को आश्रय देकर आकांक्षा को झुलस देने की प्रतिज्ञा कर चुकी है। लू के झोंके दरिद्रों की आह की तरह हृदय को चीरते हुए शरीर में कम्पन पैदा कर रहे हैं। प्रस्वेद शरीर के विरुद्ध लू और धूलि कणों से मिलकर किसी गुप्त षड्यन्त्र में व्यस्त हो रहा है। ऐसी स्थिति में मकान से बाहर जाना भी खतरे से खाली नहीं समझा जाता, किन्तु आप इस चिर शुष्क नदी की चर में आतापना लेकर जगत् के विश्वासों को मिथ्या करने पर तुले हैं।

गुरुदेव! यह आपका आत्मबल जगत् की कोटि-कोटि मग्न जनता के कल्याण में लग कर और भी निखरेगा। आप इसे पर-कल्याण के लिए लगाइए, इसी में स्व-कल्याण भी निहित है।

आचार्यदेव—पर-कल्याण? वह तो केवल ढोंग है। कौन किसका कल्याण कर सकता है? जब तक स्वयं आत्मा में परिपाक नहीं होता। तब तक सौ सर्वज्ञ मिलकर भी किसी एक का कल्याण नहीं कर सकते। आत्म-भावना की अनुकूलता के बिना ही यदि किसी का कल्याण किया जा सकता तो भगवान् वर्द्धमान अवश्य ही संगम, गोशालक और जमालि का कल्याण कर देते, किन्तु ऐसा न कभी सम्भव हुआ है और न होगा। वस्तुतः आत्म-कल्याण हमारा

[illegible] है। [illegible] अभिमान की [illegible] है। [illegible] स्व-कल्याण [illegible] नहीं किया जा सकता।

मुनि सुमन—प्रभो! [illegible] है। स्व-कल्याण का अंग होकर ही पर-कल्याण कल्याण कर सकता है। आत्म-पतन की भूमिका पर किया गया पर-कल्याण केवल मद [illegible] है। फिर भी पर-कल्याण का महत्त्व कम नहीं होता, वह तो और बढ़ जाता है, क्योंकि वह भी आपकी तत्त्वदर्शिनी दृष्टि में स्व-कल्याण ही है। आपने स्व-कल्याण का ध्येय बना लिया है तो स्व-कल्याण के इस एक अंग की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अब रही बात आत्म परिपाक की, वह दुःसाध्य हो सकता है, किन्तु असाध्य नहीं। मिट्टी को घट रूप में परिणत किया जा सकता है तो मनुष्य को भी असत्य से सत्य में परिणत किया जा सकता है। संयोगवशात् किसी की परिणति में असफलता मिल सकती है, तो किसी की परिणति में सफलता भी मिल सकती है। किसी का अयोग्य होना ही किसी के योग्य होने का निश्चायक होता है।

आचार्यदेव—मिट्टी जड़ है, इसलिए उसे अपनी आवश्यकतानुसार स्वेच्छा से परिणत किया जा सकता है, किन्तु मनुष्य चेतन है, उसकी परिणति में उसकी स्वयं आकांक्षा जागृत होनी चाहिए। बलात् की गई परिणति में मुझे विश्वास नहीं है। मैं उस परिणति को, चाहे वह धर्म में ही क्यों न की गई हो, अधर्म ही मानता हूं।

मैं जानता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति में सत्य गवेषणा की आकांक्षा होती है, किन्तु प्रायः वह सुप्त होती है। मनुष्य अपने चिर-परिचित विचार को सत्य मानने का अभ्यासी होता है। उसका अहंकार उसे अपने विचार को असत्य मानने से रोकता है। वह जो अन्वेषण करता है और उससे जो निष्कर्ष निकालता है, उसे ही अन्तिम सत्य समझ कर उससे ऐसा चिमटता है कि सहसा

दूसरी बात को सुनना ही नहीं चाहता। मैं इस हठवादिता को हटाकर मनुष्य की सुप्त आकांक्षा को जागृत करना चाहता था और अब भी चाहता हूं, किन्तु सामाजिक बन्धनों और तथाकथित स्वार्थी गुरुओं की अन्ध परम्पराओं से आज उनकी वह आकांक्षा सुप्त नहीं, बल्कि मूच्छित है, मूच्छित ही नहीं मृतप्राय है। मैंने उसे सचेत करने का प्रयत्न किया, यह आप जानते ही है, किन्तु उसका कोई असर नहीं हुआ। सत्य के विरुद्ध फैलाई गई असत्य भ्रान्तियों का असर मनुष्यों की अन्तरात्मा को भी विषैला बना चुका है। वे ऐसी कोई बात सुनना ही नहीं चाहते, जो उनकी धारणाओं के विपरीत हो। इसीलिए मैंने स्व-कल्याण के इस उपाय को छोड़कर दूसरे उपाय को अपनाया। आप ही बताइए जो आंख होते हुए भी न देखे, उसे कैसे दिखाया जाए? जो जागृत होते हुए भी नींद का बहाना करे, उसे कैसे जगाया जाए?

मुनि युगल—गुरुदेव! आप जैसे अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों के सम्मुख 'कैसे' की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती। महापुरुषों के जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना इसी 'कैसे' का सक्रिय उत्तर होती है। हमारे जैसे अल्पज्ञ आपको निवेदन करने की क्या योग्यता रख सकते हैं? किन्तु फिर भी हम शिष्य होने के नाते यह अवश्य कहेंगे कि आपकी प्रत्युत्पन्नमति, अगाध शास्त्र-ज्ञान, मर्मस्पर्शिनी प्रतिपादन शैली और भावोत्पादक भाषा संसार को प्रकाश देकर सन्मार्ग दिखला सकती है। आपने जो आलोक पाया है, उस पर सारे संसार का अधिकार है, क्योंकि आप सारे संसार के आत्मीय हैं। अपने प्रकाश को विकीर्ण कीजिए। हमें विश्वास है कि वह उत्तरोत्तर फैलेगा और लोग उससे स्वयं अपना मार्ग देखेंगे।

जो आंख होते हुए भी नहीं देख रहे हैं और जो नींद का बहाना कर रहे हैं, वे यह नहीं जानते कि वे वास्तव में ऐसा ही कर रहे हैं। उन्माद में यह भान ही कब होता है कि हम सब कुछ देख रहे हैं एवं जागृत हैं। उन्माद मिटने पर वे स्वयं को प्रयास करने पर भी वैसा नहीं कर सकेंगे। इस उन्माद को मिटाना ही होगा। इसे मिटाने में आपको परिश्रम करना पड़ सकता है, किन्तु वह निष्फल नहीं जाएगा। सफलता आपके चरण चूमेगी, इसमें अनिक

भी सन्देह नहीं।

आचार्यदेव—मुनिजनो! आप दोनों साधिक हैं, अतः मेरे पूज्यनीय हैं। आपकी विवेचना बहुत ही प्रशंसनीय है। आप जिस बात की प्रेरणा देने आए हैं, वह तो मेरे स्वभाव के सदा अनुकूल रही है, किन्तु जनता की उदासीनता ही इसमें बाधक थी। आज आपके सरल हृदय से उद्गत विचारों ने जो मांग की है, मैं उसे ठुकराऊंगा नहीं। आपकी भविष्य वाणी को कार्य रूप में परिणत करने का भार अपने ऊपर लेने में मुझे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है।

मुनि युगल—प्रभो! आप स्वर्ण हैं, तपस्या और आतापना से आपकी ज्योति और भी अधिक देदीप्यमान हो उठी है। आपमें श्यामिकता का सन्देह करने वालों को अपनी संशयालुता पर लज्जित होना पड़ेगा। आप जैसे आत्म-गवेषी आचार्य को पाकर हम धन्य हैं। हम ही क्या, सम्पूर्ण जगत् कालान्तर में आपकी महानुभावता को प्रणाम करेगा और अपने आपको धन्य समझेगा।

आचार्यदेव तेरापथ के प्रवर्तक महामहिम श्री भिक्षुराज थे। मुनि युगल श्री थिरपालजी स्वामी तथा फतहचंदजी स्वामी थे, जोकि संसार पक्षीय पिता-पुत्र थे तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते समय पूर्व दीक्षित होने के कारण बाद में भी जिनको आचार्य श्री भिक्षु ने अपनी महत्ता और निरभिमान का परिचय देते हुए बड़ा रखा था।

: १४ :

अनन्य गुरु-भक्त

'किसन ! तुम हमारे साथ नहीं रह सकोगे।'

'क्यों भगवन् ? जब आप सबको साथ ले रहे हैं तो मैंने क्या अपराध किया है ?'—किसन ने चौंक कर पूछा।

'तुम्हारा स्वभाव कठोर है किसन ! मैं जिस मार्ग पर प्रस्तुत हो रहा हूँ, वह बड़ा ही भयावह है। पग-पग पर भीषण आक्रमणों का सामना करना तो बड़ी मामूली बात होगी। सहनशीलता के बिना यह सब नहीं हो सकता। मैं तुममें इसका सर्वथा अभाव पाता हूँ, बस यही अपराध है' गुरु ने कहा।

'तो क्या मैं इस मार्ग से वंचित ही रहूँगा ?'—सतृष्ण नेत्रों से किसन ने पूछा।

गुरु मौन थे, कुछ भी उत्तर नहीं मिला।

अब किसन की आँखें भी कुछ नम हुईं। वह बोला—'यदि आप मुझे साथ नहीं लेंगे तो मैं अपने पुत्र को भी ...'।

'हाँ तुम सहर्ष ले जा सकते हो अपने पुत्र को। तुम्हारी अनुमति के बिना मैं उसे कभी नहीं ले जाता, यह मेरा नियम तो तुम्हारे ध्यान में ही है किसन !'—गुरु ने बात काटते हुए कहा।

बस फिर क्या था। किसन ने बालक का हाथ पकड़ कर साथ कर दिया। गुरु-भक्ति से ओत-प्रोत बालक का हृदय एकाएक विह्वलता में जा गिरा; पर वह कर भी क्या सकता था ? कोई चारा भी तो नहीं।

× × ×

[illegible] चुकी थी ; [illegible] तारक सेना को क्या रहा ? बेचारी [illegible] भी [illegible] से अपना मुह छिपाने के लिए। पक्षियों के चहचहाहट का संगीत [illegible] जगा रहा था जगत् को एकाएक सूर्य की भी निद्रा भग हुई। वह भी तत्काल जागृत की भान्ति मुह पर लालिमा लिए अपनी शय्या से उठ बैठा। धीरे-धीरे पूर्व क्षितिज मे खडा होकर देखने लगा संसार की घटनाओं को, शायद साथ-साथ गिनने भी लगा हो ?

इधर किंकर्तव्यविमूढ किसन अपने दुलारे पुत्र को समझाने में लगा हुआ था। वह कह रहा था—'पुत्र ! देखो हठ न करो और भोजन कर लो। तुम्हे मेरे पास रहना होगा। तुम्हारा कर्तव्य है कि पिता की आज्ञा का पालन करो।'

बालक—'हा, यदि मै ससार मे रहू तो आपका कहना ठीक है, परन्तु विरक्त के लिए तो पिता, माता, भाई, बहिन ; सबका मोह त्याग करना अनिवार्य है। पुत्रत्व के मोह को दूर हटा कर आध्यात्मिक दृष्टि से आप विचारिए और फिर कहिए कि मेरा क्या कर्तव्य है ? गुरु और फिर सच्चे गुरु को पा कर छोड देना, इससे बढकर और कौन-सी मूर्खता हो सकती है ?'

किसन—'बेटा ! तुम्हारा कथन सत्य है ? आत्मोद्धार का लक्ष्य भी तुम्हारा ठीक है, फिर भी तुम बालक हो। वहा कठोर नियमो का पालन दु साध्य है। तुम्हारे लिए जान-बूझकर हजारो कष्टो का भार अपने सर पर मढ लेना उपयुक्त नही।'

बालक—'कष्टो से आप इतने घबरा रहे है। यदि लक्ष्य ठीक है तो उस प्राप्ति के लिए कष्ट सहना तो कर्तव्य है। कष्ट ही तो मनुष्य की कसौटी है मिट्टी मे मिश्रित सुवर्ण ताप सहन किए बिना सुवर्ण नही कहला सकता। कष्टो को सहर्ष स्वीकार करूगा, आप बालकता का विचार न करें।'

किसन चुप था, उसका साहस नही हुआ कि इस विरक्त बालक को गु भक्ति से हटा कर पितृ-मोह मे फिर जकड ले। वह अच्छी तरह समझ ग कि अब इन तिलो मे तेल नही।

दो पथिक चुपचाप मार्ग मे पैर बढाते चले जा रहे थे। न जाने दोनो के हृदय मे कितने ज्वार-भाटे आ रहे थे। एकाएक दोनो रुक गए और सामने बैठे हुए एक महायोगी के चरणों मे झुक गए।

योगी—'कौन किसन ?'

हां महाराज !—'किसन ने कहा।'

योगी—'क्यों आए हो ? कहो।'

किसन—'इस बालक को आपकी शरण मे भेंट करने के लिए। न जाने आपने गुरु-भक्ति का कौन-सा जादू इस पर कर दिया है ? तीन दिनों का भूखा है तो भी आपके सिवाय इसको कुछ भी नही सूझता।'

योगी—'अरे ! क्या तीन दिनो से इसे भोजन भी नही कराया तुमने ?'

किसन—'भोजन किसे कराया जाए भगवन् ? इसने तो मेरे हाथ के भोजन का परित्याग ही कर दिया है। अब आप ही इसे भोजन कराइए।'

बालक के साहस और उसकी गुरु-भक्ति पर गुरु को भी आश्चर्य हुआ। गुरु ने कोमल दृष्टि से बालक की ओर देखा। बालक का क्या कहना था, आज उसकी हृदय-वीणा का टूटा हुआ तार फिर मिलने जा रहा था, उसकी नसें फड़क रही थीं। गुरु का मुख देखकर सब कुछ भूल गया वह। तीन दिनों की भूख का तो उसे भान भी नही था। वह झट चिपक पड़ा गुरु के चरणों मे। गुरु ने भी झुक कर उसे उठा लिया। वह दृश्य, वह गुरु शिष्य का मेल देखते ही बनता था।

दर्शकों के सामने उस समय गुरु और शिष्य के मिस गुरुता और गुरु-भक्ति का साकार चित्र उपस्थित हो गया।

महायोगी, जैनधर्म के शिरोरत्न, तेरापंथ के जन्मदाता आचार्य भिक्षुराज थे। बालक अनन्य गुरु-भक्त, तेरापंथ के भावी दूसरे आचार्य श्री भारमलजी और किसन था उनके पिता का नाम।

निशा महारानी अपना अधिकार खो चुकी थी, अन्धकार सेना को स्थान कहां ? बेचारी श्यामा भी अंचल मे अपना मुंह छिपाने के लिए। पक्षियों की चहचहाहट का संगीत [illegible] के लिए जगा रहा था जगत् को। एकाएक सूर्य की भी निद्रा भंग हुई। वह भी तत्काल जागृत की भान्ति मुंह पर लालिमा लिए अपनी शय्या से उठ बैठा। धीरे-धीरे पूर्व क्षितिज मे खड़ा होकर देखने लगा संसार की घटनाओं को, शायद सांस-सांस गिनने भी लगा हो ?

इधर किंकर्तव्यविमूढ किसान अपने दुलारे पुत्र को समझाने मे लगा हुआ था। वह कह रहा था—'पुत्र ! देखो हठ न करो और भोजन कर लो तुम्हे मेरे पास रहना होगा। तुम्हारा कर्तव्य है कि पिता की आज्ञा का पाल करो।'

वालक—'हा, यदि मै ससार मे रहू तो आपका कहना ठीक है, पर विरक्त के लिए तो पिता, माता, भाई, वहिन, सवका मोह त्याग करना अनि वार्य है। पुत्रत्व के मोह को दूर हटा कर आध्यात्मिक दृष्टि से आप विचारि और फिर कहिए कि मेरा क्या कर्तव्य है ? गुरु और फिर सच्चे गुरु को कर छोड देना, इससे वढकर और कौन-सी मूर्खता हो सकती है ?'

किसन—'वेटा ! तुम्हारा कथन सत्य है ? आत्मोद्धार का लक्ष्य तुम्हारा ठीक है, फिर भी तुम वालक हो। वहा कठोर नियमो का पा दु साध्य है। तुम्हारे लिए जान-बूझकर हजारो कष्टो का भार अपने सर मढ लेना उपयुक्त नही।'

वालक—'कष्टो से आप इतने घवरा रहे है। यदि लक्ष्य ठीक है तो उस प्राप्ति के लिए कष्ट सहना तो कर्तव्य है। कष्ट ही तो मनुष्य की कसौटी मिट्टी मे मिश्रित सुवर्ण ताप सहन किए विना सुवर्ण नही कहला सकता। कष्टो को सहर्ष स्वीकार करूगा, आप वालकता का विचार न करें।'

किसन चुप था, उसका साहस नही हुआ कि इस विरक्त वालक को भक्ति से हटा कर पितृ-मोह मे फिर जकड ले। वह अच्छी तरह स... कि अब इन तिलो मे तेल नही।

दो पथिक चुपचाप मार्ग मे पैर बढाते चले जा रहे थे। न जाने दोनो के हृदय में कितने ज्वार-भाटे आ रहे थे। एकाएक दोनो रुक गए और सामने बैठे हुए एक महायोगी के चरणो मे झुक गए।

योगी—'कौन किसन ?'

हा महाराज !—'किसन ने कहा।'

योगी—'क्यो आए हो ? कहो।'

किसन—'इस बालक को आपकी शरण मे भेंट करने के लिए। न जाने आपने गुरु-भक्ति का कौन-सा जादू इस पर कर दिया है ? तीन दिनों का भूखा है तो भी आपके सिवाय इसको कुछ भी नहीं सूझता।'

योगी—'अरे ! क्या तीन दिनो से इसे भोजन भी नही कराया तुमने ?'

किसन—'भोजन किसे कराया जाए भगवन् ? इसने तो मेरे हाथ के भोजन का परित्याग ही कर दिया है। अब आप ही इसे भोजन कराइए।'

बालक के साहस और उसकी गुरु-भक्ति पर गुरु को भी आश्चर्य हुआ। गुरु ने कोमल दृष्टि से बालक की ओर देखा। बालक का क्या कहना था, आज उसकी हृदय-वीणा का टूटा हुआ तार फिर मिलने जा रहा था, उसकी नसें फड़क रही थी। गुरु का मुख देखकर सब कुछ भूल गया वह। तीन दिनो की भूख का तो उसे भान भी नही था। वह झट चिपक पड़ा गुरु के चरणो से। गुरु ने भी झुक कर उसे बैठा लिया। वह दृश्य, वह गुरु शिष्य का मेल देखते ही बनता था।

दर्शकों के सामने उस समय गुरु और शिष्य के मिस गुरुता और गुरु-भक्ति का साकार चित्र उपस्थित हो गया।

महायोगी, जैनधर्म के शिरोरत्न, तेरापथ के जन्मदाता आचार्य भिक्षुराज थे। बालक अनन्य गुरु-भक्त, तेरापंथ के भावी दूसरे आचार्य श्री भारमलजी और किसन था उनके पिता का नाम।

: १५ :

जैन दर्शन की देन–अनेकान्तवाद

दर्शन का शाब्दिक अर्थ होता है—देखना। यह देखना इन्द्रियों से भी हो
है तथा आत्मा से भी। इन्द्रियों में आंखों से देखना तो प्रसिद्ध है ही, पर
अन्य सभी इन्द्रियों से भी हम वस्तु को देखते रहते है। बहुधा हम छूकर, सू
कर, चख कर तथा सुन कर भी देखते है। हमारी बहुत सी शंकाओं त
जिज्ञासाओं का समाधान इन्द्रिय ज्ञान से होता है। किन्तु कुछ शकाएं त
जिज्ञासाएं ऐसी भी होती है कि जिनका समाधान इन्द्रिय ज्ञान के क्षेत्र में न
आ सकता। ऐसे समाधान चिन्तन, मनन तथा तर्कणा के आधार पर प्रा
किये जाते है। उससे आगे बढ़कर आत्मानुभूति से भी समाधान प्राप्त किये ज

रास्ता दिखाया है तो विज्ञान ने दर्शन को परिपुष्ट बनाया है।

दर्शन एक बहुत गहन विषय गिना जाता है, अतः उसकी गहराई तक पहुंचने वाले व्यक्ति बहुत थोड़े ही मिलते हैं। साधारण लोग तो उसकी कुछ ऊपरी बातों को जानकर ही अपनी आत्म-तुष्टि कर लिया करते हैं। गहरे पानी में पैठकर मोतियों की खोज करना वस्तुतः सहज हो भी कैसे सकता है? दर्शन की गहनता में एक कारण यह भी बन गया है कि विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत जब सामने आते हैं, तब जनसधारण के लिए यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि वह किसे सत्य माने और किसे नहीं? यह एक उलझन भी है और सुलझन भी। नाना विचार जहां मनुष्य को उलझाते हैं, वहां उनके चिन्तन-क्षेत्र को विशाल बना कर निष्कर्ष निकालने में सहायक भी होते हैं।

यहां मैं सभी दर्शनों की मान्यताओं के विषय में न जाकर केवल जैन दर्शन के विषय में ही कुछ ऐसी बड़ी बातें बताना चाहूंगा, जो कि हर जैन भाई के लिए जानना आवश्यक है। यथासम्भव अधिक गहनता में भी मैं नहीं जाना चाहूंगा। क्योंकि मैं जानता हूं कि वाणिज्य-प्रधान जैन समाज दर्शन की गहराइयों में उतनी रुचि नहीं रखता, जितना कि अर्थ की गहराइयों में। वह अर्थ का उपार्जन करता है, उसका व्यय भी करता है। धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा है। जैनधर्म की प्रभावना के लिए तथा जैन दर्शन के प्रसार के लिए वह मुक्त-हस्त से देता है, परन्तु इसके आगे का सारा कार्य वह वेतन भोगी व्यक्तियों से ही करवा लेना चाहता है। स्वयं को अर्थार्जन के लिए मुक्त ही रखना चाहता है। शायद जैन दर्शन या धर्म के प्रसार में यह एक बहुत बाधक कारण रहा है। भला स्वयं मरे बिना किसे स्वर्ग प्राप्त हुआ है?

प्रचार तथा प्रसार की बात को एक क्षण के लिए छोड़ भी दें तो कम से कम जैन होने के नाते उन्हें स्वयं तो उनका ज्ञान गहराई से होना चाहिए। परन्तु वहां भी बहुत कमी ही नजर आती है। बहुत कम व्यक्ति मिलेंगे जो दर्शन के जिज्ञासु हों। सम्भवतः जैन व्यक्तियों से कहीं अधिक अजैन व्यक्ति जैन दर्शन का गहराई से अध्ययन करने वाले मिलेंगे। अधिकांश जैन कुल-परम्परा से ही जैन हैं। उनके सत्य दर्शन को समझ कर अपनाने वाले जैन बहुत कम हैं। प्रत्येक

[illegible] ज्ञान की ओर ध्यान दे।

[illegible] है। उसी प्रकार [illegible] दिखाई देता ही है, उसी प्रकार [illegible] अनेकान्तवाद [illegible] जाती नहीं है। [illegible] यदि उस वस्तु का पूरा बोध [illegible] सभी स्वभावों को जाना [illegible] जान पाये तो [illegible] स्वभाव जान [illegible] सम्भावना को मुक्त रखता [illegible] है। परस्पर विरुद्ध से [illegible] रूप में पाये जाते हैं, तब उन्हें स्वीकार करने का साहस अनेकान्तवाद ही दे सकता है। एकान्तवाद तो अपने पूर्वाग्रह पर डट कर नए ज्ञान को अपने दरवाजे में घुसने ही नहीं देता। सत्यान्वेषी के लिए यह मार्ग उपयुक्त नहीं हो सकता।

एक मकान के विभिन्न कोणों से अनेक फोटो लिये जाए और फिर उन सभी 'पोजों' को एक बराबर रख कर देखा जाये तो उनमें परस्पर बहुत भेद मालूम देगा। कोणों के बदल जाने से हर 'पोजों' में मकान के आसपास का दृश्य भी बदल जाता है। किसी 'पोज' में अधूरा तो किसी में पूरा दृश्य बदल जाता है। देखने वालों को यह भ्रम होना सहज है कि ये सब एक ही मकान के 'पोज' है या भिन्न मकानों के? किन्तु वास्तविकता के धरातल पर तो उस भ्रम का सत्य से कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता। सभी पोजों का समन्वित रूप ही उस मकान का ठीक तथा पूर्ण ज्ञान दे सकता है। इसीलिए अनेकान्तवाद वस्तु को हर कोण से देखने के लिए कहता है। एक ही मकान के पूर्व तथा पश्चिम आदि परस्पर विरोधी कोणों से ग्रहण किये गये दृश्यों की एक अवस्थिति से मकान की स्थिति में यदि किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं फैलती तो फिर विभिन्न विरोधी स्वभावों के अस्तित्व से वस्तु में ही यह कैसे फैल जायेगी? क्या एक ही व्यक्ति आपके पिता तथा पुत्र की अपेक्षित

दृष्टियों से बेटा तथा बाप नहीं कहा जा सकता ? यदि वह कहा जा सकता है तो फिर वस्तु में भी द्रव्यत्व तथा पर्यायत्व की दृष्टियों से नित्यता और अनित्यता दोनों का समान अस्तित्व क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रकार के अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से वस्तुतः जैन दर्शन ने दर्शन के क्षेत्र में भी एक प्रकार की अहिंसा का प्रयोग किया है।

जैन दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त स्वभावों का एक पिंड होती है। साधारणतया उसके कुछ स्वभावों से तो व्यक्ति परिचित होते हैं, परन्तु अधिकांश से अपरिचित ही होते हैं। हर साधारण से साधारण वस्तु के विषय में भी जब सूक्ष्मता से सोचा जाता है, तब उस विश्लेषण में से स्वतः ही अनेक नई बातें उभर आती हैं। मान लीजिये हम एक रूमाल के विषय में सोचते हैं और उसकी सभी दृश्य तथा अदृश्य विशेषताओं को जान लेना चाहते हैं तो तद्विषयक प्रश्नों का उत्तर खोजते-सोचते उसके प्रत्येक परमाणु के इतिहास की गहराई तक पहुंच जाना होता है। यह रूमाल जिसे प्रतिदिन काम में लिया जाता है—रुई का है। इतना लम्बा तथा चौड़ा है। इतने नम्बर के सूत का है। अमुक जाति की रुई का है। अमुक देश, शहर तथा मिल में बना है। अमुक वर्ष, मास तथा तारीख का बना और खरीदा हुआ है। अमुक देश, शहर, बाजार तथा दुकान से खरीदा हुआ है। अमुक मूल्य का है। अमुक कार्य में लिया गया तथा लिया जा रहा है। यों प्रत्येक नये प्रश्न का उत्तर उसके विषय में नई जानकारी देता जायगा। आखिर हमारे प्रश्न उसके प्रत्येक सूत के प्रत्येक परमाणु तथा प्रत्येक परमाणु के वर्ण, गंध, रस व स्पर्श की सूक्ष्मता तक पहुंच जाएंगे। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने में एक गहन दार्शनिकता छिपाये और अनन्त विस्तार समेटे बैठी है। हम उस अनन्त में से यथाशक्ति कुछ ही जान पाते हैं और शेष सब हमारी ज्ञान-शक्ति से ओझल ही रह जाता है।

अनेकान्तवाद वस्तु के सभी गुणों तथा तद्विषयक सभी अपेक्षाओं को समान रूप से महत्त्व देने का दृष्टिकोण उपस्थित करता है। फलस्वरूप वह दूसरे की बात को भी महत्त्व देने का मार्ग जानता है। वह विभिन्न मान्यता

[illegible] और [illegible] कि [illegible] तारों [illegible] प्रकार छोटे से छोटे [illegible] जाती है, उसी [illegible] में पड़े हुए [illegible] की पावन-[illegible], किन्तु सभी के लिए [illegible] बनती है।

[illegible] कि क्या कोई भी इन्द्रिय अपने सामान्य व्यवहार और वस्तु स्थिति में समन्वय बैठा सकती है? सामान्य व्यवहार की सीमाएं अत्यन्त स्थूल होती है, जबकि वास्तविकता की अत्यन्त सूक्ष्म। सामान्य व्यवहार मे मकान, वस्त्र, पात्र आदि सभी वस्तुएं उपयोगिता की दृष्टि से ग्रहण की जाती है और वे परस्पर एक दूसरी से भिन्न मानी जाती है, जबकि वास्तविकता मे वे सब एक पुद्गल द्रव्य (परमाणु) के अन्तर्गत एकरूप होती है। उनकी एकात्मकता या विभिन्नता अनेकान्त के आपेक्षिक दृष्टिकोण से ही समन्वित हो सकती है। हर इन्द्रिय-ज्ञान के साथ यदि वह अपेक्षा का दृष्टिकोण न रहे तो किसी भी वस्तु का सूक्ष्म या वास्तविक ज्ञान किया जाना असम्भव हो जाये।

जो शब्द हम सुनते है और उसका अर्थ समझते है, वह किसी भाषा विशेष या देश विशेष आदि अपेक्षाओ से ही सत्य होता है। जो वर्ण हम देखते है, वह भी हमारी दृष्टि और प्रकाश के एक प्राकृतिक समझौते की अपेक्षा से ही सत्य होता है, अन्यथा वस्तुस्थिति मे तो काले दिखाई देने वाले केशो मे सभी वर्ण निहित होते है। जो गध हमे भली लगती है, वह दूसरे प्राणियो को बुरी तथा जो हमे बुरी लगती है, वह उन्हे अच्छी लगती देखी जाती है। इसी प्रकार जो वस्तु हमे मीठी लगती है, वही दूसरे को कड़वी और जो हमे कडवी लगती है, वह दूसरे को मीठी लगती भी देखी जाती है। एक ही वस्तु का स्पर्श किसी को अनुकूल और किसी को प्रतिकूल मालूम होता है तो इन सबमे हमारी और अन्य प्राणियो की इन्द्रियो की ग्रहण करने की आपेक्षिक शक्ति ही कारणभूत बनती है।

जो व्यक्ति इन अपेक्षाओं को जानता है और उन सबका ध्यान रखते हुए अपने मन्तव्यों को तथा अपने कार्यों को संचालित करता है, वस्तुतः वही सच्चे अर्थों में अनेकान्तवादी कहा जा सकता है। जैन अनेकान्तवादी है, यह बात एक परम्परा से कही जा रही है, परन्तु जैनों का वास्तविक अर्थ में अनेकान्तवादी बनना अभी भी अवशिष्ट है। अनेकान्तवाद केवल दर्शन-क्षेत्र का ही सिद्धान्त नहीं, किन्तु यह जीवन का सिद्धान्त भी है। जो अपने जीवन में जितना अधिक अनेकान्तवाद को स्थान दे सकता है, वह उतना ही अधिक सफल जीवन बिता सकता है।

१६

हिन्दी साहित्य और तेरापंथ

साहित्य का उद्देश्य जीवन को जागृत और गतिशील बनाना है, जिससे कि जीवन के हित की साधना हो सके। साहित्य शब्द मे ही इस स-हितता की बात स्वय अन्तर्गर्भित है। साहित्य शब्द लघु है, किन्तु इसका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे किया जाता है। साहित्य की परिभाषा की जाए तो कहना होगा कि 'अन्तरग जीवन की अभिव्यजना' साहित्य है। दूसरे शब्दो मे ज्ञान-राशि के सचित कोश को साहित्य की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। सक्षेप मे अर्थ के उपयुक्त और सुन्दर मेल को ही साहित्य कहा जाता है। महाकवि कालिदास ने 'वागर्थाविव सपृक्तौ पार्वतीपरमेश्वरौ' इस मागलिक वचन मे पार्वती और शिव को शब्द और अर्थ के समान सपृक्त बतलाया है। वस्तुत उन्होने उपमा के साथ-साथ सम्पूर्ण साहित्य की भी परिभाषा करदी है।

आज साहित्य शब्द का बहुत व्यापक प्रयोग होता है। यह अतिशय प्रच-लित बन गया है। किन्तु एक समय वह भी था, जब साहित्य शब्द के स्थान मे वाड्मय शब्द का प्रयोग हुआ करता था। वर्तमान अनुसधान के अनुसार साहित्य शब्द का प्रयोग सातवी शताब्दी मे भर्तृहरि की रचना मे प्राप्त होता है। वह पद्य इस प्रकार है—

'साहित्य-सगीत-कला-विहीन, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीन·।'

इसके बाद नवमी शताब्दी में कवि राजशेखर ने साहित्य को एक विद्या के रूप में गिनाया है।

साहित्य को विभिन्न भेदों में विभक्त किया जाता है। भाषा की दृष्टि से प्राकृत साहित्य, संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य, अंग्रेजी साहित्य आदि भेद बनाये जाते हैं। विषय भेद से आगमिक, दार्शनिक, वैदिक, पौराणिक, तात्त्विक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक आदि।

दूसरी दृष्टि से साहित्य के दो भेद भी किये जाते हैं—सामयिक और शाश्वत। सामयिक साहित्य वह होता है, जिसमें वर्तमान की सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य प्रकार की समस्याओं पर चिन्तन किया जाता है या वर्तमान की प्रगति का विवेचन किया जाता है। समाज में क्या कुण्ठाएं हैं तथा उन्हें किस तरह तोड़ा जा सकता है आदि जो एकदम आवश्यक और सामयिक प्रश्न होते हैं, उनका समाधान चिन्तन, मनन आदि सामयिक साहित्य में प्रस्तुत होता है। यद्यपि समस्याएं सुलझाने के आधार पर शाश्वत सत्य का निरूपण भी वहां होता है, किन्तु उसकी इतनी गौणता और अल्पता होती है कि भेद को मिटाया नहीं जा सकता।

शाश्वत साहित्य वह होता है, जिसमें मानव-जीवन के मूल गुणों को छुआ जाता है। उन्हें संवर्धन कैसे मिले? उनकी कितनी व्यापकता है? समाज किस आधार पर टिक सकता है? राष्ट्र का विकास कौन-सी धारणा के बल पर किया जा सकता है? संघर्ष, अवरोध और निराशा जीवन को किस प्रकार जटिल और भार बना देती है तथा मेल, प्रगति और आशा उसे कैसे विकसित तथा जीवन्त बनाती है? जीवन का सही ध्येय क्या है? आदि जिज्ञासाएं शान्त की जाती हैं तथा शाश्वत और सर्वकालीन सत्य का आविष्करण वहां किया जाता है। वह अमर और प्रबल प्रेरणादायी होता है। उसमें वैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत होते हैं। उसमें मानव सम्बन्धों को प्रमुख रूप से विश्लेषित किया जाता है।

हिन्दी साहित्य का जो अब तक विकास हुआ है, उसे विद्वान् तीन भागों में विभक्त करते हैं। १. भारतेन्दु युग, २. द्विवेदी युग, ३. नवयुग।

[illegible] सुविधाओं [illegible] हर सुविधा [illegible] ने करना प्रारम्भ किया था। [illegible] किया नहीं थी, पर [illegible] करना चाहते थे। उनके कार्यों [illegible] किया और तब वे सोचने लगे कि समुद्र पार से [illegible] हमारी भाषा में हमें अपनी बात सिखाना चाहते हैं तो क्या हम हमारे भाइयों को हमारी बात उसी भाषा के माध्यम से नहीं कह सकते? इसी भावना से प्रेरित होकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके और साथी व्यक्तियों ने यहां की धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्परा की सुरक्षा के लिए कमर कसी।

यह वह समय था, जबकि यहां की स्वतन्त्रता का अपहरण हुए एक शती गुजर चुकी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारी शासन के फलस्वरूप जनता में फैली भारी निराशा और उपद्रवों के बाद भारत को अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत किया जा चुका था। यहां के निवासियों को बड़े-बड़े आश्वासनों के बावजूद भी अपमानित जीवन बिताना पड़ रहा था। स्वतन्त्रता के अपहरण के बाद भारतीयों की सांस्कृतिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियों पर भी प्रत्यक्ष और परोक्ष भारी आघात होने लगे थे। उसी के प्रतिकार स्वरूप यहां के जन-मानस का क्षोभ हिन्दी भाषा की उन्नति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। सन् १८८५ में भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' नाम की एक हिन्दी-पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की। जिसमें भारतीय गौरव, संस्कृति तथा धर्म विषयक निबन्ध होते थे। यहीं से हिन्दी गद्य का व्यवस्थित क्रम प्रारम्भ हुआ मानना चाहिए। स्वयं भारतेन्दु तथा उनके साथियों ने हिन्दी में अनेक नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि लिखे। इन रचनाओं में समाज-सुधार तथा धर्म-निष्ठा पर अधिक बल दिया जाता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस काल के प्रमुख व्यक्ति थे। अतः उनके नाम से ही यह 'भारतेन्दु युग' कहलाया। उस समय हिन्दी को बहुधा 'खड़ी बोली' कहा जाता था, कोई-कोई उसे हिन्दी भी कहा करते थे।

४. रहस्यवाद । आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने, उससे मिलने तथा उसके रूप की कल्पना करने की साहित्यिक प्रवृत्ति को रहस्यवाद कहा जाता है और आत्मा की प्रकृति के साथ सम्बन्ध स्थापन की प्रवृत्ति को छायावाद । इन वादों की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रगतिवाद का जन्म हुआ । आत्मा की बात सबके समझ में नहीं आती थी, अतः सामाजिक दृष्टिकोण को प्रमुखता देने वाला वाद प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह मार्क्स के विचारों को महत्व देने वाला वाद है । इसने राजाओं, महन्तों, धनिकों को छोड़कर गरीबों और झोंपड़ियों की सुध-बुध ली है । प्रगतिवादी साहित्यकार भूखे, नंगे समाज के इस तिरस्कृत और उपेक्षित वर्ग पर ध्यान देते हैं । समाज में समता आये, मनुष्य मनुष्य में भेद न रहे, यही इस साहित्यिक वाद की मूल प्रेरणा है । प्रयोगवाद विशेषत नये-नये प्रयोगों को महत्त्व देने वाला वाद है । परन्तु यह अभी अपने आपमें एक प्रश्न ही बना हुआ है । यद्यपि इस वाद का आग्रह है कि जीवन को समग्रता से ग्रहण किया जाना चाहिए, फिर भी भविष्य ही इसके विकसित-अविकसित स्वरूप का निर्णय करेगा । अभी इसे अपने सर्वाङ्गों को परिपुष्ट कर अपनी सीमाओं का निर्धारण करना अवशिष्ट है । इन उपर्युक्त वादों के अतिरिक्त भी राष्ट्रवाद, हालावाद आदि कुछ वादों ने प्रसिद्धि पाई है ।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य की एक स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत करने के पश्चात् मै अपने इस धर्म-संघ मे चल रही साहित्यिक प्रवृत्तियो के बारे मे भी कुछ कहना चाहूगा । तेरापंथ विशेष रूप से राजस्थान मे रहा है, इसलिए इसका प्रारम्भिक साहित्य तो केवल राजस्थानी मे ही मिलता है । इसके आद्य-प्रवर्तक आचार्य भीखणजी का ३८ हजार पद्य प्रमाण तथा चतुर्थ आचार्य जयाचार्य का प्राय. साढे तीन लाख पद्य प्रमाण साहित्य राजस्थानी भाषा को एक साहित्यिक देन के रूप मे ही कहा जा सकता है । इसके अतिरिक्त अष्टम आचार्य श्री कालूगणी की नायकता मे संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि मे भी योगदान किया गया है ।

भारत ने जबसे स्वतन्त्रता प्राप्त की है, तभी से संघ के विद्वान् साधु-साध्वियो का साहित्यिक स्रोत हिन्दी की ओर मुड चला है । हिन्दी के क्षेत्र

में सन्त-साहित्य की यह धारा बहुमुखी होकर बह रही है। इस धारा के दर्शन धर्म, इतिहास, समीक्षा, काव्य आदि अनेक मार्ग हैं। इस साहित्य-साधना में स्वयं आचार्य श्री तुलसी तथा उनके शिष्य-शिष्याएं सलग्न हैं, फिर भी मैं मानता हूं कि उनकी संख्या अल्पतम है। मैं कल्पना करता हूं कि कभी वह दिन भी आएगा, जिसमें प्रत्येक साधु-साध्वी साहित्य-निर्माण में लगे होंगे। अभी जितना हो रहा है तथा जितने व्यक्तियों द्वारा हो रहा है, वह काफी है, इतना कहकर हम सन्तोष तो कर सकते हैं, परन्तु उसे ही पराकाष्ठा समझने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए। साहित्य में हमारे लिए असीम क्षेत्र तथा असीम सम्भावनाएं मौजूद हैं। अभी तो हमें इस समुद्र में अपना प्रवेश मात्र ही मानना चाहिये, इसी प्रकार हमें अपने साहित्य-निर्माण के विस्तार से अधिक उसकी गहराई पर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि साहित्य का मूल उसके विस्तृत आकार से नहीं, किन्तु उसकी गहराई से ही मापा जाता है।

: १७ :

अहिंसा की ओर बढ़ते चरण

'स्व' का विस्तार

इतिहास के आरम्भ काल से ही मनुष्य दो परस्पर विरोधी विचारों से उत्पीड़ित होता आया है। एक तरफ वह भ्रातृत्व की स्थापना का प्रयास करता आया है तो दूसरी तरफ वैर, घृणा और द्वेष का ताण्डव करने से भी पीछे नहीं रहा है। जब-जब मनुष्य में विवेक जागृत हुआ, तब तब उसने अपने 'स्व' की सीमा का विस्तार किया है। अर्थात् जिसे वह 'पर' समझता था उसे भी अपने समान समझकर उसके और अपने स्वत्व को एक कोटि में माना। यों उदार हुआ। परन्तु जब जब अविवेक या पशुता जागृत हुई। तब तब उसने अपने 'स्व' की तथाकथित सीमा के आसपास भी किसी को फटकने नहीं दिया। प्रत्युत अपनी उस कल्पित सीमा की सुरक्षा के लिए अनेकों लड़ाइयां लड़ी। और 'पर' को अपने से दूर हटा देने में ही अपना कल्याण समझा। इस प्रकार भ्रातृत्व और शत्रुत्व, विवेक और अविवेक, मनुष्यता और पशुता तथा अहिंसा और हिंसा आदि परस्पर विरुद्ध स्वभावों में से कभी एक का तो कभी दूसरे का सहारा लेते हुए मनुष्य ने अपने जीवन सूत्र को आगे बढ़ाया है।

इतना सब कुछ होते रहने पर भी निष्कर्ष स्वरूप हम देखते आये हैं कि पशुता सदैव हारती रही है और विवेक विजयी होता रहा है। फलस्वरूप मनुष्य के 'स्व' की कल्पित लघु मर्यादा अनेक बार टूटी है, विस्तृत हुई है। किसी अज्ञात प्राग् ऐतिहासिक काल में केवल अपने व्यक्तित्व तक सीमित रहने वाले मनुष्य का 'स्वत्व' परिवार तक व्यापक बना। यहीं से हिंसा और

मनुष्य के लिए [illegible] का भाव मांसाहारी का उतना उपयुक्त नहीं रह गया है। मनुष्य की [illegible] को स्वीकार नहीं है।

अहिंसा का क्रमिक विकास

मनुष्य ने धीरे-धीरे जो भी सांस्कृतिक विकास किया है, उसके साथ-साथ अहिंसा का भी विकास होता रहा है। मूल बात तो यह है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य ने अहिंसा को अपनाया है, त्यों त्यों ही वह अपना सांस्कृतिक विकास करने मे समर्थ हुआ है। उसके खान-पान मे पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धो मे दण्ड और राजनीति सम्बन्धी विचारो मे हुए परिवर्तनो का क्रमिक अध्ययन करने से उपर्युक्त बात बहुत स्पष्टता के साथ ध्यान मे आ सकती है।

खाद्य के क्षेत्र में

किसी समय मे मनुष्य केवल मांसाहार पर ही जीवित रहता था। न उसके भोजन मे फल सम्मिलित थे और न अन्न। दूसरे जीवो का शिकार ही उसकी दिनचर्या थी। इतिहास मे ऐसे समय का भी उल्लेख है कि जब मनुष्य को मारकर भी मनुष्य खा जाया करता था। आज भी 'मै तेरा खून पी जाऊगा' 'मै तुझे कच्चा चबा जाऊंगा' आदि वाक्य अत्यन्त क्रुद्धावस्था मे तथा शत्रुता के भाव प्रकट करते समय मनुष्य के मुख मे सुने जा सकते है। ये प्रयोग यही तो याद दिलाते है कि मनुष्य अवश्य ही किसी समय मे नरभक्षी रहा होगा।

आज भी अनेक जगली जातिया इस प्रकार की मिलती है जिनमे कि मनुष्य का शिकार करने तथा उसे खा जाने की प्रथा चालू है। महायुद्ध के समय एक बार एक अफ्रीकी जगली जाति के नेता को जब यह पता चला कि युद्ध चल रहा है और उसमे लाखो आदमी मारे जा रहे है, तो उसने आश्चर्याभिभूत होकर पूछा था कि आखिर इतने आदमियो को कौन खायेगा ? जब उसे बतलाया गया कि ये मनुष्य युद्ध मे मारे ही जा रहे है, उन्हे कोई खाता नही है। तब उसने और भी चकित होकर कहा था कि कितने मूर्ख

स्थापित हो गया था।

रोम के शासकों द्वारा अपनी विजय-यात्राओं पर मनाए जाने वाले आमोदोत्सव भी इस क्रूरता के नमूने पेश करते रहे हैं। सम्राट् टीटस द्वारा सन् ८० में निर्मित कोलोसियम नामक क्रीडागार में किये जाने वाले खेल इसी बात के उदाहरण हैं। उस क्रीडागार में ७०-८० हजार आदमी बैठकर खेल देख सकते थे। खेल क्या होते थे, मनुष्य की आन्तरिक क्रूरता का नग्न नृत्य ही होता था। उसमें विजित देश से लाए गये कैदियों तथा अपने गुलामों को निःशस्त्र करके हिंसक पशुओं के साथ लड़ने को बाध्य किया जाता था। कभी-कभी उन्हें अपने प्रभुओं के मनोरंजनार्थ परस्पर लड़कर भी प्राण देने पड़ते थे। पशुओं के द्वारा आघात लगने पर जब वे लोग छटपटाते या चीखते, तब निर्दय दर्शक प्रमोद-मग्न हो नाच उठते। सम्राट् क्लोडियस के समय एक विजयोत्सव पर इस क्रीडागार में १२३ दिन तक लगातार यह नारकीय खेल चला था। उसमें ११ हजार हिंसक पशुओं और १० हजार मनुष्यों को प्राणाहुति देनी पड़ी थी। उसमें ५०० सिंहों के साथ कई सौ मनुष्यों को लगातार पाच दिन तक लड़ना पड़ा था। जब सभी सिंह मारे गये तब दूसरे खेलों की बारी आई थी।

इसी प्रकार ईसा से २-३ शती पूर्व एक चीनी सेनापति ने एक युद्ध में शत्रु-सेना के एक लाख योद्धा कैद किये थे। परन्तु युद्धकालीन खाद्याभाव के कारण उन अतिरिक्त व्यक्तियों को कैद में रखना और खाना दे सकना सम्भव नहीं था। सेनापति ने उन सबको जीवित ही गड़वा दिया था। गाड़ने से पूर्व उनको मार देने का सुझाव उसने यह कहकर रद्द कर दिया था कि गाड़ने से जब वे स्वयं ही मर जायेंगे तब व्यर्थ ही धन और शक्ति का व्यय क्यों किया जाये?

चंगेज और नादिरशाह आदि की क्रूरता की कहानियां भी इसी कोटि में आने वाली हैं। अन्यत्र भी इस प्रकार की क्रूरताओं के उदाहरण प्रायः हर एक देश के सम्राटों तथा सेनापतियों के जीवन में से संकलित किये जा सकते हैं। उन सबका कारणों में अवश्य अन्तर मिल सकता है, परन्तु मूल

[illegible] अभिवादन करते है। [illegible] परस्पर का [illegible] नही किन्तु [illegible] की उपयोगिता सिद्ध करती है। [illegible] सर्वभावेन यदि मनुष्य की प्रवृत्तियो पर ध्यान दिया जाये तो वह हिंसा से अहिंसा की ओर [illegible] मालूम होती है।

जनता का शासन

प्राचीन युग मे धर्म प्रचार तथा अर्थ-प्राप्ति, राज्य प्राप्ति और साम्राज्य-विस्तार के लिए प्राय खुल्लम-खुल्ला एक देश दूसरे देश पर आक्रमण कर दिया करता था। जनता युद्ध करने वाले दोनो पक्षो की चक्की के दो पाटो के बीच मे पिसती रहती थी। लूट-खसोट तथा अत्याचार, बलात्कार आदि का भी उसे सामना करना पडता था। न कोई सुनने वाला होता और न कोई रक्षक।

उस समय की जनता राजनैतिक दृष्टिकोण से सगठित नही थी, अत उसकी कोई सगठित आवाज भी नही थी। ज्यो-ज्यो राजनैतिक चेतना जागृत हुई त्यो-त्यो उसने अपने अधिकारो को समझा और उन्हे प्राप्त करने का सघर्ष चालू किया। प्रजातन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद आदि शासन-प्रणालिया जनता के उन अधिकार-प्राप्ति के लिये किये गये सघर्षो की ही उपलब्धिया है। वर्तमान मे कोई भी राज्य-शासन जनता की सर्वथा उपेक्षा करके चल नही सकता।

राजाओ तथा सम्राटो का शासनकाल अब समाप्त प्राय है। जहा-कही प्राचीन अवशेषो के रूप मे वह स्थित है भी तो वहा अपने प्राचीन अधिकारो से वचित होकर मुमूर्षु के रूप मे ही है। वास्तविक अधिकार प्रजा के हाथो मे आते चले जा रहे है। इस समय दुनिया मे ऐसे अनेक राज्य स्थापित हो चुके है तथा होते चले जा रहे है, जहा प्रजा अपने प्रतिनिधि चुनती है और वे राज्य के लिए सविधान बना कर उसी के अनुसार राज्य-शासन चलाते है।

[illegible] है ।

युद्ध एक समस्या

[illegible] प्रतिभा [illegible] समय [illegible] है । फिर भी [illegible] की [illegible] भी [illegible] नाना प्रकार की आशंकाओं को जन्म दे रही है । यह एक ऐसी समस्या है कि यदि इसे नहीं सुलझाया गया तो यह आगे भी अन्य सभी क्षेत्रों की प्रगति को [illegible] जायगी । इस युग के प्रमुख वैज्ञानिक आइन्स्टीन से किसी ने पूछा था कि आपके विचार से तृतीय विश्वयुद्ध कौन से शस्त्रों से लड़ा जायगा । उन्होंने उत्तर देते हुए कहा था कि तृतीय विश्वयुद्ध के विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता, परन्तु यदि उसके बाद भी कोई युद्ध हुआ तो अवश्य ही लाठियों से लड़ा जायगा । इस कथन से स्पष्ट ही यह बात झलक रही है कि यदि तृतीय विश्वयुद्ध हुआ तो वर्तमान के भयंकर शस्त्रों से मानव जाति और उसकी समस्त संस्कृति नष्ट हो जायेगी । यदि कोई मनुष्य का नाम लेवा बच भी जायेगा तो वह अवश्य ही एक गुहा-मानव के सदृश व्यक्ति ही होगा ।

यह सत्य है कि अभी तक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय विधान में युद्ध को अनैतिक संस्था नहीं माना गया है । जो कुछ नियम बने हैं, वह युद्ध को रोकने के लिए नहीं, अपितु प्रायः उसके संचालन के लिए बने हैं । उनसे अधिकतर यही स्पष्ट होता है कि यदि युद्ध किया ही जाये तो अमुक-अमुक विधि-निषेधों का सब राष्ट्र समान रूप से पालन करें । परन्तु अब वह समय आ गया है, जब युद्ध को किसी भी स्थिति में नैतिक न मानकर समस्याओं का समाधान मैत्री तथा अहिंसा के द्वारा ही किये जाने का निर्णय किया जाये । ऐसे निर्णयों के लिए आज जन-मानस अनुकूल है । इस समय युद्ध की भाषा बोलने वाले को जनता का समर्थन सहज ही मिलना मुश्किल है, क्योंकि आजकल का युद्ध सैनिक व राज्यकर्ताओं तक ही सीमित नहीं है । उसका अधिकांश प्रभाव तो जनसाधारण पर पड़ता है । अतः अपने तथा अपनी सन्तान के जीवन को कुछ बहके हुए व्यक्तियों के इशारे पर नष्ट कर देने के लिए आज का सावधान

[illegible] मानव [illegible] में [illegible] नहीं, यह कहना चाहिए।

संहार शक्ति का विकास

[illegible] को [illegible] तीव्र से तीव्रतर [illegible] गया है। [illegible] के प्रकार का भय बना [illegible] है। [illegible] तलवार, बन्दूक, तोप और बमों [illegible] उसी भय [illegible] रहा है। विज्ञान को भी उसने उसी भय के उत्पादन और निराकरण का माध्यम बना डाला है। विज्ञान से एक ओर वह संहार [illegible] तैयार कर रहा है तो दूसरी ओर ब्रह्माण्ड में निर्बन्ध यात्रा का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। यों कहना चाहिए कि इस समय मानव जाति [illegible] और [illegible] की तैयारी साथ-साथ कर रही है।

संहारक अस्त्रों का वर्तमान भंडार भी इतना बड़ा बतलाया जाता है कि उससे सम्पूर्ण मानव जाति को कुछ ही [illegible] में नष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक संहारक अस्त्र अपने से भी बढ़कर संहारक अस्त्र के निर्माण की प्रेरणा देता है और वैज्ञानिकों के उर्वर मस्तिष्क अधिक से अधिक विनाशक तत्त्वों को प्राप्त कर लेने के अनुसंधान में लग जाते हैं। अणुबम के निर्माण ने उद्जन बम के निर्माण को सुलभ बनाया था। वैज्ञानिकों को अणुबम बनाने से पूर्व उद्जन बम का फार्मूला ज्ञात था, पर उसके निर्माण में २ करोड डिग्री तापमान की आवश्यकता थी और उस समय तक प्रयोगशालाओं में चार सौ डिग्री से अधिक तापमान उपलब्ध नहीं था। अणुबम के विस्फोट से अभीष्ट तापमान पैदा हुआ और उसके सहारे उद्जन बम बनाया गया। इस तरह विध्वंसक अणुबम महा विध्वंसक उद्जन बम के जन्म में सहायक हुआ। एक दोष यदि दूसरे दोष का जन्मदाता बने तो इसमें आश्चर्य भी क्या हो सकता है?

विश्व के सर्वोत्तम दिमाग ही विश्व के विनाश के साधन जुटाने लगें तो सारे संसार में विनाश का भय व्याप्त हो जाना सहज ही है। प्रत्येक वैज्ञानिक सम्भवतः अपना उद्देश्य तो संसार को उन्नत तथा साधन सम्पन्न बनाने का ही [illegible]ता होगा, परन्तु उसके अन्वेषण तथा अनुसन्धान संसार के सुख-साधनों को

किया है [illegible] है। आज एक एक मनुष्य को मारने के लिए [illegible] की आवश्यकता नहीं रह गई है। हजारों मनुष्यों को एक ही प्रहार में मार गिराने की तैयारी कर ली गई है। प्रथम विश्व युद्ध में एक सैनिक को मारने के लिए [illegible] की १० हजार गोलियां या तोप के १० गोले खर्च करने होते थे। परन्तु अब तो दुनिया के बड़े से बड़े शहर को क्षण भर में भूमिसात् किया जा सकता है। इस थोड़े से वर्षों में ही मनुष्य ने अपनी प्रहार शक्ति में बहुत बड़ा विकास कर लिया है। हिरो-शिमा और नागासाकी पर इस्तेमाल किए गए अणुबमों से भी शतगुण विध्वंस शक्ति वाले बम तथा सैकड़ों मील दूर जाकर मार करने वाले राकेट अस्त्रों ने मनुष्य को दानवीय शक्ति से सुसज्जित कर दिया है। कहा जाता है कि अणु शक्ति ने संसार के सामने प्रगति का एक विशाल क्षेत्र खोल दिया है। यह सत्य भी है, परन्तु इस समय जो अर्थ-व्यय अणु सम्बन्धी अनुसंधानों पर किया जा रहा है, वह अधिकांश विनाश के लिए ही हेतु बन रहा है। जगत् का भला तो इस शक्ति से कब होगा पता नहीं, बुरे की सम्भावना तो हर कदम पर लगी है। वैज्ञानिकों की ज्ञान-शक्ति का आदर करते हुए भी लोग उससे भय-भीत हैं। कभी-कभी तो उनके तथा उनके ज्ञान के प्रति ऐसे सहज व्यंग जन-साधारण के मुख से निकल पड़ते हैं कि उन्हें सुनकर आश्चर्य होता है। एक बार विख्यात पदार्थ शास्त्री डा० रावर्ट मिलिकन टेलीफोन की घण्टी सुनकर फोन रिसीव करने गये। किन्तु उनकी नौकरानी उनसे पहले ही वहां पहुंच गई थी और वह फोन का जवाब दे रही थी। फोन किसी बीमार ने किया था। वह उनकी 'डाक्टर' उपाधि को देखकर यह गलती कर बैठा था। नौकरानी उसे उत्तर देती हुई कह रही थी—"यह तुम्हारी भूल है। ये ऐसे डाक्टर नहीं जो किसी का भला करें।" अपने विध्वंसक अणु-संशोधन कार्य पर यह एक व्यंग और सहज भाष्य सुनकर डाक्टर चुपचाप जहां के तहां खड़े रह गये। यह भाष्य एक उन पर ही नहीं, किन्तु अणुशक्ति को ध्वंस की ओर ले जाने वाले सभी राष्ट्रों के वैज्ञानिकों पर ठीक बैठता है।

दूसरे को कष्ट पहुंचाने के स्थान पर स्वयं कष्ट सहने की भावना होनी चाहिए। यदि इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाये तो ये प्रयोग अहिंसा न रहकर हिंसा बन जाते है।

यद्यपि इन प्रयोगो को अहिंसक प्रयोग कहना अहिंसा की पूर्णता के साथ मेल नहीं खाता, क्योंकि अहिंसा का सिद्धान्त हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त है, बल प्रयोग या बाध्यता उसमे सर्वथा वर्जनीय है। ये प्रयोग दूसरे पक्ष का हृदय परिवर्तन करने मे उतने सफल होते नही दिखते, जितने कि बाध्य करने मे, फिर भी जहा तक अहिंसा के क्रमिक विकास की बात है, वहा तक यह कहना ही होगा कि यह उसी मार्ग की ओर बढने वाला एक अग्रिम कदम है।

नीति नहीं, सिद्धान्त

अहिंसा इस युग की अनिवार्य आवश्यकता है। हिंसा और सर्वनाश आज पर्यायवाची बन चुके है। अणुशक्ति ने मनुष्य को जीवन और मृत्यु की सीम पर ला खडा किया है। हिंसा की ओर बढाया गया एक कदम भी अब मृ क्षेत्र मे प्रविष्ट होने के समान है। आज तक प्राप्त की गई ध्वस-शक्ति मनुष्य की विवेकशीलता को एक खुली चुनौती है। विवेक की सुषुप्ति गलत निर्णय का कारण बन सकती है, अत उसे जागृत रखकर ही भविष्य के विष मे निर्णय करना है। भूतकालीन अनुभवो का प्रकाश सामने रखकर औ भूतकालीन भूलो को दुहराने से बचकर मनुष्य जो सर्वहितकारी मार्ग प्राप् करेगा, वह अहिंसा के अतिरिक्त कोई दूसरा नही होगा। आज विश्व वे राजनैतिक मच पर शान्ति और मैत्री के जो प्रयत्न किये जा रहे है, वे अहिंस वृत्ति से उतने प्रेरित नही है, जितने कि भय-वृत्ति से। भय मे बाध्यता छिप होती है, जो कि हिंसा का ही एक हल्का रूप होती है। इन प्रयत्नो मे भ की मात्रा घटे और अहिंसा की बढे, तभी यह माना जा सकता है कि लक्ष्य के समीप पहुचने का मार्ग प्रशस्त हो रहा है।

अहिंसा को अब जीवन की एक पालिसी या नीति मान कर नही, किन् उसे तो जीवन का सिद्धान्त बनाकर चलना ही उचित है। मानवीय संस्कृति

को चरम उत्कर्ष पर पहुंचाने के लिए यह आवश्यक है कि अहिंसा-वृत्ति को चरम उत्कर्ष पर पहुंचाया जाये। वस्तुतः अहिंसा-वृत्ति का चरम उत्कर्ष मानवीय संस्कृति का चरम उत्कर्ष है। मनुष्य के चरण उस ओर बढ़ें और तब तक बढ़ते रहें, जब तक उसे प्राप्त न कर लिया जाये।

जीवन-व्यवहार और धर्म

मनुष्य के जीवन-व्यवहार को देखकर ही उसकी धार्मिकता का अंकन किया जा सकता है। क्योंकि ये दोनो एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करते रहते है। कभी व्यवहार धर्म को प्रभावित करता है तो कभी धर्म व्यवहार को। मनुष्य इन दोनो मे विलग होकर नही जी सकता। अकेला व्यवहार मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता नही है। वह केवल शरीर के समान है। उसमे धर्म की आत्मसत्ता अपेक्षित है। कोरा शरीर शव या जड होता है तो कोरी आत्मा अरूप। दोनो का सम्मिलन ही व्यवहार्य रूप ग्रहण करता है। तात्पर्य यह है कि धर्म से अनुप्राणित व्यवहार ही सम्यग् होता है।

धर्म एक उलझा हुआ विषय है। यद्यपि उसके विषय मे चिरकाल से बहुत कुछ कहा जाता रहा है। अनेक ग्रन्थ रचे गये है। फिर भी उसका सर्व सुलभ स्वरूप स्पष्ट नही हो पाया। आज भी हर जिज्ञासु के मन को यह प्रश्न प्राय झकझोरता रहता है कि धर्म किसे कहा जाये ? अनेक मत है, अनेक व्याख्याए है और अनेक उपदेशक है, किसको ठीक और पूर्ण माना जाये ? यह एक बहुत बडी उलझन है, पर इससे दूर रह कर साराश रूप मे एक सर्व-जन-सम्मत मोटी रूपरेखा अवश्य प्रस्तुत की जा सकती है और वह यह है कि मनुष्य ईमानदारी से रहे, प्रामाणिक बने। धर्म का यह सर्वग्राह्य साराश है, किन्तु जीवन-व्यवहार की ओर ध्यान देने पर लगता है कि वातावरण मनुष्य को ईमानदार बनने देने के लिए साधक नही, बाधक है।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन या उसका व्यवहार अनेक विभागो मे विभक्त रहता है। किसी एक कुटुम्ब का सदस्य होने के नाते उसे अपने कौटुम्बिक-

और [illegible] के [illegible], [illegible] का [illegible] है और [illegible] के आधार पर [illegible] किया जाता है। [illegible] भी [illegible] राजनैतिक पार्टियाँ [illegible] नहीं रही। [illegible] है। ऐसा करने के लिए उन [illegible] भी किए जाते हैं। आज के '[illegible]' को भी यह अधिकार है कि मत-दान के विषय में वह भी अपना अभिमत व्यक्त करे। इस प्रकार जनता में राजनैतिक चेतना का जागरण अपेक्षाकृत अधिक हो रहा है। पहले युग में ऐसा नहीं था। चेतना के किसी भी अंश के जागरण की अवहेलना नहीं की जा सकती, फिर भी चेतना का उपयोग प्रामाणिकता से होता है या अप्रामाणिकता से - इसका ध्यान रखना तो अत्यन्त आवश्यक होता ही है। विषमोन्नत भूमि में चलते समय लाठी बहुत सहायक हो सकती है, पर उससे किसी का सिर भी तो फोड़ा जा सकता है। राजनैतिक चेतना का उपयोग राष्ट्र के विकास में सहायक अवश्य हो सकता है, पर आज जो उसे सत्ता-प्राप्ति का साधन बनाया जा रहा है और अपने से पृथक् विचारधारा के व्यक्तियों के अस्तित्व को खतरा पैदा किया जा रहा है, वह उस चेतना का सम्यग् या प्रामाणिक उपयोग नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त सभी प्रकार के जीवनों में अनुस्यूत रहकर उन सबकी प्रामाणिकता में कारणभूत होने वाले धार्मिक जीवन की महत्ता उन सबसे ऊपर कही जा सकती है। समस्त जीवन-व्यवहार धर्म से अनुप्राणित होकर चलें तो संसार की अधिकांश जटिल समस्याएं अपने आप ही सुलझ जाएं। यों भी कहा जा सकता है कि वे उत्पन्न ही न हों। धर्म के मुख्य रूप हैं— सत्य और अहिंसा। व्यक्ति के सामने चाहे जैसी कठिन समस्या क्यों न आये, पर यदि वह उसे सत्य और अहिंसा के सहारे ही सुलझाने का प्रयास करे तो हर जीवन-प्रसंग में प्रामाणिकता का निर्वाह होने लगे। अहिंसा जीवन-व्यवहार के लिए एक प्राण-शक्ति है और सत्य उसकी सुरक्षा का कवच। किन्तु इन दोनों का ही आचरण कठिन है।

: १६ :

भारतीय संस्कृति

कलात्मक जीवन-पद्धति को ही संस्कृति शब्द से अभिहित किया जाता है। संस्कृति धर्म-भावना, सौन्दर्य-विकास, सगठन-विकास और नैतिक विकास आदि सभी जीवन के अपरिहार्य व्यवहारो की उन्नति मे अपूर्व साधक होती है। विचार और आचार के क्षेत्र मे मानव-समाज ने जो कुछ निष्पन्न किया है, वह सब संस्कृति के सुदृढ आधार पर ही सुस्थिर हुआ है। यद्यपि कलात्मकता एक व्यक्ति मे भी मिल सकती है और समष्टि मे भी, किन्तु व्यक्ति की कलात्मकता जब तक समष्टि द्वारा अपनाली नही जाती, तब तक वह कोई पद्धति नही हो सकती। एक मनुष्य के गमन मात्र से पद्धति (मार्ग) नही हो जाती। उसमे तो अनेको का गमन और बार-बार गमन अपेक्षित है। धर्म, नीति, दर्शन और सभ्यता आदि को निरन्तर तथा सामूहिक अनुशीलन से जो सस्कार हमारी चेतना पर बैठते है, वे ही सस्कृति के वाहक बनकर हमारे विकास-क्रम को आगे बढाते है।

यद्यपि इस ससार मे मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी है। वे भी मनुष्य के समान ही जीवन धारण करते है, किन्तु उनके जीवन-क्रम मे कलात्मकता का अभाव है। इसी कारण से उनकी कोई सस्कृति नही मिलती। वे प्राणी हजारो-लाखो वर्षों पहले जिस प्रकार से जीवन-यापन करते थे, आज भी वैसे ही जी रहे है। वे अपने जीवन-क्रम मे कोई विशेष परिवर्तन और परिमार्जन करने के लिए सक्षम नही है, किन्तु मनुष्य ने अपने जीवन-यापन के प्रकार मे केवल इस एक सदी की अवधि मे भी अनेक परिष्कार कर डाले है।

संस्कृति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि धर्म, नीति, दर्शन, सभ्यता आदि उसमें समाहित हो जाते हैं। संस्कृति एक ऐसा भवन है, जो कि धर्म और नीति की नींव, दर्शन के खंभे और सभ्यता की छत द्वारा निर्मित हुआ है। जैसे कि स्थान-भेद से भवन-निर्माण के प्रकार में विभिन्नता दिखाई देती है, उसी प्रकार संस्कृति में भी विभिन्न भेद बन जाते हैं, परन्तु उन सबके मूल में सांस्कृतिक एकता भी साक्षात् देखी जा सकती है।

प्राय धर्म, राष्ट्र या जाति आदि के भेदों के आधार पर ही सस्कृति-भेद की कल्पना की जाती रही है, परन्तु वहा बहुधा विवक्षा की ही प्रधानता होती है। इसलिए विद्वज्जन किसी साधर्म्य की अपेक्षा से अन्वय स्थापित कर देते हैं। जैसे कि आत्मवादियो की सस्कृति, भूतवादियो की संस्कृति, पूर्वीय सस्कृति, पाश्चात्य सस्कृति आदि। भारतीय पौरस्त्य भी है और आत्मवादी भी। भारत ही क्यो, प्राय सभी पौरस्त्य देश आत्मवादी ही है और पाश्चात्य प्राय भूतवादी। इसीलिए पूर्वीय सस्कृति को त्याग-प्रधान और पाश्चात्य सस्कृति को भोग-प्रधान कहा जाता है। एक सस्कृति मे प्राप्त भोगो को त्यागने वाला महान् गिना जाता है और दूसरी मे अप्राप्त भोगो का सग्राहक। भारतीय सस्कृति त्याग-प्रधान है, इसलिए वह प्राप्त भोगो के त्याग मे ही महत्त्व मानती है, अनुपलब्ध भोगो को पाने मे और उपलब्ध भोगो के भोग मे नही। यद्यपि शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भोग क्वचित अनिवार्य होता है, फिर भी वहा अनासक्ति रहनी चाहिए, भारतीय सस्कृति का यह मूल सन्देश है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' यह प्रवृत्ति-प्रधान व वय भोग मे भी परित्याग-भावना को स्थापित करता हुआ भारतीय सस्कृति को ही अभिव्यक्त करता है।

स्वाधीनता पूर्वक जो आत्म-सवरण किया जाता है, वही वास्तविक त्याग होता है। अप्राप्त भोगो को पाने के लिए और प्राप्त को भोगने के लिए जो अतिशय आसक्त रहता है वह कभी त्याग नही हो सकता। 'साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ' यहा शास्त्रकार ने कहा है कि जो स्ववशता मे भोगो को त्यागता है, वही त्यागी कहा जाता है, परवशता से त्यागने वाला नही।

की प्राचीनता और नवीनता का रहस्य भी तो यही है कि वह हर क्षण में नवीन रहता है।

हर परम्परा अपने बाल्यकाल और यौवनकाल में नवीन ही होती है तथा हर नवीनता अपनी प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में परम्परा बन जाती है। किसी भी प्राचीन परम्परा का स्थान जब नवीन परम्परा ग्रहण करती है, तब उस पूर्व परम्परा का कोई अपमान नही होता, अपितु काल-परिपाक से होने वाली एक स्वाभाविक परिणति होती है। वृद्ध पिता का कार्य-मुक्त होना और उसके स्थान पर युवक पुत्र का कार्यभार सम्भालना एक सहज प्रक्रिया है। इससे वृद्ध का किसी प्रकार का अपमान कैसे समझा जा सकता है? यह सम्मान बना रहे, इसका उत्तरदायित्व नवीन तथा प्राचीन दोनो ही परम्पराओ को सम्मिलित रूप से वहन करना चाहिए। जिस प्रकार कार्य सामर्थ्य न रहने पर हर पिता अपने पुत्र को सहर्ष अपने स्थान पर नियुक्त कर देता है, उसी प्रकार हर प्राचीन परम्परा को अपने काल-परिपाक के साथ ही आगामी नवीन परम्परा के लिए स्थान रिक्त कर देना चाहिए। कई बार ऐसा नही होता, तब गड़बड़ पैदा होती है। नवीनता अपने लिए उपयुक्त स्थान मागती है और पुराणता उसके लिए इन्कार करती है। नवीनता पुराणता पर असामर्थ्य का दोषारोपण करती ही है और पुराणता नवीनता पर अनुभव शून्यता का। आखिर तनातनी बढ जाती है और द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। एक अर्से तक यह झंझट चलता रहता है और जय-पराजय की स्थिति दोलायमान रहती है। समय पुराणता के साथ नही, किन्तु नवीनता के साथ होता है। अत प्राय अन्तिम विजय उसकी ही होती है और पुराणता का वर्चस्व समाप्त हो जाता है।

जब-जब प्राचीन परम्परा हटती है और नवीन परम्परा उसका स्थान ग्रहण करती है, तब-तब कुछ समय तक समाज मे एक अस्थिरता की स्थिति व्याप्त हो जाती है। कुछ व्यक्ति निवर्तमान परम्परा का पक्ष लेते है तो कुछ प्रवर्तमान का। निवर्तमान परम्परा का पक्ष पहले प्रबल, पीछे समबल और अन्त मे निर्बल हो जाता है, जबकि प्रवर्तमान परम्परा का पक्ष ठीक उसके

को अनादिता और सनातनता का रहस्य भी तो यही है कि वह हर क्षण मे नवीन रहता है।

हर परम्परा अपने बाल्यकाल और यौवनकाल में नवीन ही होती है तथा हर नवीनता अपनी प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था मे परम्परा बन जाती है। किसी भी प्राचीन परम्परा का स्थान जब नवीन परम्परा ग्रहण करती है, तब उस पूर्व परम्परा का कोई अपमान नही होता, अपितु काल-परिपाक मे होने वाली एक स्वाभाविक परिणति होती है। वृद्ध पिता का कार्य-मुक्त होना और उसके स्थान पर युवक पुत्र का कार्यभार सम्भालना एक सहज प्रक्रिया है। इसमे वृद्ध का किसी प्रकार का अपमान कैसे समझा जा सकता है? यह सम्मान बना रहे, इसका उत्तरदायित्व नवीन तथा प्राचीन दोनो ही परम्पराओ को सम्मिलित रूप से वहन करना चाहिए। जिस प्रकार कार्य सामर्थ्य न रहने पर हर पिता अपने पुत्र को सहर्ष अपने स्थान पर नियुक्त कर देता है, उसी प्रकार हर प्राचीन परम्परा को अपने काल-परिपाक के साथ ही आगामी नवीन परम्परा के लिए स्थान रिक्त कर देना चाहिए। कई बार ऐसा नही होता, तब गड़बड़ पैदा होती है। नवीनता अपने लिए उपयुक्त स्थान मागती है और पुराणता उसके लिए इन्कार करती है। नवीनता पुराणता पर असामर्थ्य का दोषारोपण करती ही है और पुराणता नवीनता पर अनुभव शून्यता का। आखिर तनातनी बढ जाती है और द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। एक अर्से तक यह झझट चलता रहता है और जय-पराजय की स्थिति दोलायमान रहती है। समय पुराणता के साथ नही, किन्तु नवीनता के साथ होता है। अत प्राय' अन्तिम विजय उसकी ही होती है और पुराणता का वर्चस्व समाप्त हो जाता है।

जब-जब प्राचीन परम्परा हटती है और नवीन परम्परा उसका स्थान ग्रहण करती है, तब-तब कुछ समय तक समाज मे एक अस्थिरता की स्थिति व्याप्त हो जाती है। कुछ व्यक्ति निवर्तमान परम्परा का पक्ष लेते है तो कुछ प्रवर्तमान का। निवर्तमान परम्परा का पक्ष पहले प्रबल, पीछे समबल और अन्त मे निर्बल हो जाता है, जबकि प्रवर्तमान परम्परा का पक्ष ठीक उसके

: २५ :

पर्दा और उसके कुछ विचारणीय पहलू

पर्दा प्रथा पुराने राजस्थान की एक सामान्य रीति है। कहा जाता है कि यह प्रथा मुसलमानी साम्राज्य के युग में चली थी। मुसलमानों में औरतों के लिए पर्दा रखना एक प्रथा ही नहीं, किन्तु धार्मिक विधान में अनिवार्य है। अंग्रेजी राज्य-काल में अंग्रेजी रहन-सहन को जिस प्रकार उच्चता की दृष्टि से देखा जाने लगा था, सम्भव है उसी प्रकार मुसलमानी युग में उनके रहन-सहन को भी उसी उच्च दृष्टि से देखा जाने लगा था। जो व्यक्ति उच्चाधिकारी या उच्चवर्गीय होते थे, वे मुसलमानी ढंग से रहने लगे थे। यहां के राजाओं के तो उन लोगों से मन या बेमन वैवाहिक सम्बन्ध भी काफी मात्रा में होने लगे थे। धीरे-धीरे उनकी जो सभ्यता ऊपर से नीचे तक फैली, उसी का एक अंग यह पर्दा प्रथा है। कुछ लोगों के कथनानुसार मुसलमानों के आतंक से अपनी इज्जत बचाने के लिए स्वयं हिन्दुओं ने ही यह प्रथा चालू की थी। यदि पहली बात ठीक है तो कहना चाहिए कि पर्दा एक फैशन के रूप में आया था और यदि दूसरी बात सही है तो कहना होगा कि वह एक बहुत बडी कायरता के रूप में आया था। चाहे जैसे भी आया हो, पर अब तो न वह फैशन रहा और न सुरक्षा का साधन। एक मात्र उसका रूढिगत रूप ही अवशिष्ट र[ह] गया है।

उस समय के लोगों ने पर्दा लगा कर अपनी बहू-बेटियों की सुरक्षा क[ी] जो बात सोची थी, उसे केवल तात्कालिक उपचार या असामर्थ्य की स्थिति [में]

व्यापार करती है। बिल्कुल यहा से विपरीत स्थिति वहा की कही जा सकती है। वहा के मर्दों का मुह कोई दूसरी स्त्री देखले तो उन्हे भी वैसी ही शर्म लगती है, जैसी कि यहा की स्त्रियो को पुरुष द्वारा देख लिए जाने पर लगती है। दोनो ही स्थानो मे पर्दे के सस्कार ऐसे रूढ हो चुके है कि उनका उल्लघन होते ही शील के उल्लघन का भय होने लगता है। परन्तु यह केवल भय ही है, क्योकि पर्दा हटा देने से दुशीला और रखने से सुशीला होने की बात की कोई प्रामाणिकता नही है। दोनो ही स्थानो मे अच्छी तथा बुरी औरते प्राय. होती ही है। इसी प्रकार पर्दा उठा देने से स्त्रिया निर्लज्जा हो जाएगी या झगडालू हो जाएगी आदि आशकाए भी निर्मूल है। निर्लज्जता तथा कलह-प्रियता का सम्बन्ध पर्दे से न होकर उनकी व्यक्तिगत प्रकृति से है। जिनकी प्रकृति शान्त है, वे पर्दा रखने तथा न रखने पर शान्त ही रहेगी और जिनकी प्रकृति झगडालू है, वे झगडालू। इतना जरूर है कि यदि विचार-परिवर्तन किया जा सके तो उनकी प्रकृति मे भी अन्तर डाला जा सकता है।

यो तो प्राय प्रत्येक नये कार्य मे नई आशकाए खडी होती ही है, परन्तु उनका समाधान भी होता है। आशकाओ के बल पर समय का साथ छोड देना समझदारी नही होती, किन्तु समय के साथ रह कर मार्ग मे आने वाली आशकाओ तथा बाधाओ को मिटाना समझदारी का कार्य है। राजस्थान मे प्रायः स्त्री-शिक्षा के विरोध मे क्या यह उक्ति कहावत के रूप मे प्रचलित नही थी कि 'एक घर मे दो कलमे नही चल सकती' ? किन्तु आज प्राय प्रत्येक माता-पिता अपनी लडकी को थोडी-बहुत शिक्षा दिलाना चाहते ही है। जो लडकी कुछ भी पढी लिखी नही होती, उसे वर प्राप्त होना कठिन होता जा रहा है। शायद भविष्य मे और भी अधिक कठिन हो जाए।

पर्दे के लिए जितनी आशकाए की जाती है, प्रायः वे सभी शिक्षा के लिए भी प्रयुक्त की गई थी। निर्लज्ज हो जाने, झगडा करने, काम-काज मे लापरवाह हो जाने आदि आशकाओ के बावजूद लडकिया पढती है और बाद मे अपना-अपना घर भी सभालती है। घर-घर मे प्राय' दूसरी कलम चलने लगी है और वे सभी आशकाए निरस्त हो गई है। उसी प्रकार पर्दे के

रहे। इस क्षेत्र में भी बार-बार व्याख्या की गई, तथा नयी उसमें परिवर्तन आया। उस समय तक जो समय के अनुसार उसकी व्याख्या की गई थी तो आज आज के समय के अनुसार व्याख्या की जा रही है।

दो प्रकार जैनों में प्रायः माता, भवानी, भैरव तथा पितर आदि देवी-देवताओं के पूजन की प्रथा है। यद्यपि वे उन्हें धर्म-बुद्धि से नहीं पूजते, किन्तु भौतिक आकांक्षाओं से प्रेरित होकर तथा परम्परा से चलन कर वे पूजा करते हैं। फिर भी आचार्य श्री भिक्षु ने उस प्रथा का काफी विरोध किया था। अब भी अनेक बार उसके परित्याग पर बल दिया जाता रहा है। धर्म-बुद्धि से देव पूजा की जाने पर तो अध्यात्म को क्षति पहुंचती है, किन्तु कुलदेवता के रूप में की जाने वाली पूजा को स्वयं पूजा करने वाले जब केवल एक कुल-परम्परा ही मानते हैं, तब उसमें अध्यात्म की क्या अड़चन हो सकती है? फिर भी उस प्रश्न पर अध्यात्म के क्षेत्र में विचार किया गया है और उस विषय में अपना स्पष्ट दृष्टिकोण भी उपस्थित किया गया है। इससे जाना जा सकता है कि प्रश्न चाहे किसी क्षेत्र का क्यों न हो, अध्यात्म उस पर अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाल सकता है तथा आदरणीयता और अनादरणीयता के विषय में भी अपनी धारणा अभिव्यक्त कर सकता है।

जैन समाज प्रारम्भ से ही लचीली प्रकृति का रहा है। उसने अपने आप को समय के अनुसार बदलना सीखा है। इसी विशेषता ने उसे आज तक जीवित रखा है। आगे के लिए भी यदि उसे जीवित रहना है तो उस विशेषता को बनाये रखना आवश्यक होगा। आज चारों ओर के वातावरण को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि जैन समाज को अपने रहन-सहन, व्यापार-व्यवहार तथा वेश-भूषा के विषय में फिर से विचार करना आवश्यक है। अनेक जगह आज के इन ज्वलन्त प्रश्नों पर विचार चल रहा है तथा स्थानीय अनेक समाज अपने में सामूहिक तथा वैयक्तिक परिवर्तन की तैयारी भी करने लगे हैं। उदाहरण स्वरूप जोधपुर का नाम लिया जा सकता है। वहां दुहरा पर्दा रखा जाता था। औरतें अपने मुंह पर घूंघट तो रखती ही थीं, किन्तु जब कभी बाहर जाना होता, तब एक बड़ी चादर में पांच या दस की टोली में

था। पर यह ठीक था, उसमे मुझे सन्देह है। उस प्रथा ने स्त्रियो को जहा और अधिक निर्बल तथा भयाक्रान्त बना दिया, वहा पुरुष वर्ग की निर्बलता को भी सबके सामने उघाड कर रख दिया। उस समय के पुरुष समाज ने स्त्रियो के मुह पर पर्दा डालने की प्रथा चला कर वस्तुत अपनी निर्बलता पर ही पर्दा डालने का प्रयास किया था। आज जब कही पर्दा उठने की बात चलती है, तब वहा कुछ पुरातनपन्थी नाक-भौ चढाया करते है। उस समय अनेक बार मुझे एक प्रसिद्ध उर्दू शायर अकबर इलाहाबादी की वे पक्तिया याद आ जाती है, जिनमे उसने कुछ बिना पर्दा की औरतो को देखकर उनसे पूछा था कि तुम्हारा पर्दा कहा गया? इस पर उन औरतो ने उत्तर देते हुए बेधडक कहा था कि वह तो मर्दों की अक्ल पर गिर गया है। यदि मान भी लिया जाए कि उस समय की सामाजिक परिस्थितिया की विवशता से ऐसा करना आवश्यक हो गया था तो भी यह सोचना अवशिष्ट रह ही जाता है कि क्या आज भी वैसी ही परिस्थितिया चालू है? यदि नही तो यह क्यो नही सोचा जाता कि आज पर्दे की आवश्यकता समाप्त हो चुकी है?

प्रश्न के उत्तरार्ध मे पूछा गया है कि इस प्रथा को उठाने या न उठाने मे धर्म का क्या सम्बन्ध है? मै कहना चाहता हू कि आत्मा की प्रत्येक क्रिया का धर्म से सम्बन्ध होता ही है, क्योकि कोई भी क्रिया या तो धर्म को पुष्ट करने वाली होगी या फिर उससे विरुद्ध। पर्दा रखना कोई धार्मिक अनुष्ठान तो है ही नही—ऐसा स्पष्ट मालूम देता है। वह धार्मिक क्रियाओ मे बाधक बनता है, यह भी स्पष्ट है, क्योकि धर्म ईर्या को प्रश्रय देता है और पर्दा रखते हुए ईर्या का शोधन हो नही सकता। पर्दा अपने आपमे भय का ही एक प्रतीक है। अत अहिंसाधर्मी के लिए यह शोभास्पद नही कहा जा सकता, क्योकि उसे निर्भय होना चाहिए।

मुझे यह भी नि सकोच कह देना चाहिए कि जिस तरह पर्दा रखना कोई धार्मिक अनुष्ठान नही है, वैसे ही पर्दा उठा देना भी कोई अपने आपमे धार्मिक अनुष्ठान नही है, परन्तु वह ईर्या मे साधक बनता है और निर्भयता

आदि से आवृत होकर भी प्रकाश से विमुख नहीं हो सकता। जीवन यदि अपनी मौलिकता से विमुख होने लगे तथा अपना मूल को न पा सके तथा स्व को न देख सके तो उसके लिए इससे अधिक अकाज की और क्या बात होगी?

जीवन कभी अध्यात्म विहीन तो हो ही नहीं सकता, उसकी स्वयं अपने प्रति उन्मुखता हर क्षण विद्यमान रहती ही है। हां, वह कभी-कभी मूर्च्छित और आवृत्त अवश्य हो जाती है। भयंकर अपराधी और क्रूर हत्यारे के मन मे भी करुणा का अजस्र स्रोत बहता है और संवेदन का उद्दीप्त दीपक जलता ही है। क्योंकि जीवन का अपना निसर्ग यही है। आग ठंडी कब होती है, वह तो प्रतिपल प्रज्वलित होती रहती है। अंकुर नीचे कब जाता है, वह तो निरन्तर ऊपर ही उठता है। जीवन अपने स्वभाव से विमुख नही हो सकता। स्वभावोन्मुखता ही तो जीवन का अर्थ है। जीवन का आशय पहिचानना ही अध्यात्म है। प्रश्न है कि वह कब प्रारम्भ होना चाहिए। अर्थात् प्रश्न का आशय यह बना कि उसके लिए कोई अवस्था निर्णीत कर देनी चाहिए। उससे पूर्व अपने आपको अन्धेरे मे रखा जा सकता है और भुलावे मे डाला जा सकता है। जब अपने आपको जानना और अपनी वास्तविक महत्ताओ को आंकना ही अध्यात्म का मूल है और अपनी कुण्ठित शक्तियो को विकसित करना ही धर्म का प्राण है तो उपर्युक्त प्रश्न का कुछ आशय नही बनता। कोई अपने आपसे कब तक विलग रहे, इसका कोई अर्थ नही दीखता। अपना स्वरूप तो उसे तत्काल पहिचानना ही चाहिए, तभी तो वह आनन्द से जी सकेगा और अक्षय आनन्द की सृष्टि भी कर सकेगा।

मन मे आशंका उठती है कि लोग आखिर आध्यात्मिकता से दूर क्यो भागना चाहते है तथा उसे दूर क्यो ढकेलना चाहते है कि वह कब से प्रारम्भ हो? लगता है कि उसके विषय मे भ्रान्ति है। उसे निम्नस्तर का गिना जा रहा है। बहुत से लोग तो उसे जीवन से अलग मान भी बैठे है। उनकी धारणा है कि जीवन के ज्वलन्त संघर्ष मे जो न टिक सके, वे आध्यात्मिक पथ के पथिक होते है और नीरस मृत जीवन जीते है। पर तथ्य यह नही है। वस्तुत